

कुन्दकुन्द शतक अनुशीलन

प्रथम संस्करण : 5 हजार
(10 फरवरी 2015)

मूल्य : 20 रुपये

पद्यानुवाद एवं अनुशीलन

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पी-एच.डी., डी-लिट्

टाइपसेटिंग :
त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स,
ए-4, बापूनगर, जयपुर

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर-302 015

फोन : 0141-2707458, 2705581

E-mail : pststjaipur@yahoo.com

मुद्रक :
रेनबो ऑफसेट प्रिंटर्स
बाईस गोदाम, जयपुर

प्रकाशकीय

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमोगणी।

मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

उक्त छन्द में भगवान महावीर और गौतम गणधर के तत्काल बाद याद किये जाने वाले आज से लगभग दो हजार वर्ष पहले हुये आचार्य कुन्दकुन्द ने पंच परमागमों की रचना कर भव्यजीवों का अनन्त उपकार किया है। उक्त परमागमों का गहरा अध्ययन कर आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी ने उन पर लगातार ४५ वर्ष तक प्रवचन कर उन्हें जन-जन तक पहुँचा दिया। उनके परमप्रिय शिष्य डॉ. भारिल्ल ने उक्त परमागमों पर सरल-सुबोध हिन्दी भाषा टीकायें लिखी, सारांश प्रस्तुत किये, पद्यानुवाद किये; कलशों के पद्यानुवाद और अन्त में लगभग ४५०० पेज अनुशीलन के लिखे।

प्रस्तुत अनुशीलन भी उसी की अन्तिम कड़ी है; जिसे हम पहली बार प्रकाशित कर रहे हैं।

आचार्य श्री विद्यानन्दी जी की प्रेरणा से सम्पूर्ण समाज ने १९८७ में आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी समारोह उत्साहपूर्वक मनाया। १ अगस्त ८७ से ३१ दिसम्बर १९८९ तक लगभग ढाई वर्ष तक यह समारोह मुमुक्षु समाज ने भी अ.भा. जैन युवा फैडरेशन के तत्वावधान में मनाया। हम सबने भी डॉ. भारिल्ल से इस अवसर पर कुछ करने का अनुरोध किया। फलस्वरूप हिन्दी पद्यानुवाद सहित यह कुन्दकुन्द शतक सामने आया। इसकी १ लाख ६२ हजार ८०० प्रतियाँ छपी, जन-जन तक पहुँची, उन पर प्रवचन किये। उच्च कोटि के गायक कलाकारों से उनकी संगीतमय कैसिट बनवाई, वह भी खूब चली।

बाद में ओडियो सीडी, वीसीडी आदि भी प्रचुर मात्रा में निर्मित हुई और घर-घर पहुँची।

आ. श्री धर्मभूषणजी को तो यह कुन्दकुन्द शतक इतना प्रिय था कि उन्होंने अनेक बार इसे मंगवाकर बंटवाया।

डॉ. भारिल्ल का कुन्दकुन्द प्रेम देखकर सि. च. आचार्य श्री विद्यानन्दजी बहुत प्रभावित हुए। आपने अनेक बार डॉ. भारिल्लजी को समयसार की गंभीर चर्चा के लिए कुन्दकुन्द भारती भवन दिल्ली में बुलाया और गहन चर्चा की। अ.भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् के मंच से भी आपने समयसार सप्ताह के आयोजन कराए और डॉ. भारिल्ल को समयसार के शिखर पुरुष की उपाधि से अलंकृत किया।

आज विश्व के कोने-कोने में डॉ. भारिल्ल कुन्दकुन्द की वाणी का अलख जगा रहे हैं। हमारे विशेष अनुरोध को दृष्टिगत रखते हुए आपने यह कुन्दकुन्दशतक अनुशीलन अल्प समय में अस्वस्थ रहते हुए भी बड़े ही श्रमपूर्वक लिखी है, इसके लिए मैं आपका विशेष रूप से आभारी हूँ।

पुस्तक की प्रकाशन व्यवस्था सदा की भाँति प्रकाशन विभाग के मैनेजर श्री अखिल बंसल ने बखूबी सम्हाली है, टाइपसेटिंग श्री दिनेशजी ने मनोयोगपूर्वक किया है, इसके लिए संस्था दोनों महानुभाव की आभारी है।

पुस्तक की कीमत कम करने में जिन दातारों ने आर्थिक सहयोग दिया है, वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

आप सभी कुन्दकुन्द वाणी के यथार्थ मर्म को समझें और अपना आत्मकल्याण करें, इसी पवित्र भावना के साथ -

- ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.

प्रकाशनमंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

डॉ. भारिल्ल के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. समयसार : ज्ञायकभावप्रबोधिनी टीका	५०.००	४५. मैं कौन हूँ	१०.००
२-६. समयसार अनुशीलन भाग १ से ५	१२५.००	४६. रहस्य : रहस्यपूर्ण चिट्ठी का	१०.००
७. समयसार का सार	३०.००	४७. निमित्तोपादान	६.००
८. गाथा समयसार	१०.००	४८. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	५.००
९. प्रवचनसार : ज्ञानज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी टीका	५०.००	४९. मैं स्वयं भगवान हूँ	५.००
१०-१२. प्रवचनसार अनुशीलन भाग १ से ३	९५.००	५०-५१. ध्यान का स्वरूप/रीति-नीति	४.००
१३. कुन्दकुन्द शतक अनुशीलन	२०.००	५२. शाकाहार	५.००
१४. प्रवचनसार का सार	३०.००	५३. भगवान ऋषभदेव	४.००
१५. नियमसार : आत्मप्रबोधिनी टीका	५०.००	५४. तीर्थंकर भगवान महावीर	३.००
१६-१७. नियमसार अनुशीलन भाग १ से ३	७०.००	५५. चैतन्य चमत्कार	४.००
१८. छहढाला का सार	१५.००	५६. गोली का जवाब गाली से भी नहीं	२.००
१९. मोक्षमार्गप्रकाशक का सार	३०.००	५७. गोम्मटेश्वर बाहुबली	२.००
२०. ४७ शक्तियाँ और ४७ नय	८.००	५८. वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	२.००
२१. पंडित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व	२०.००	५९. अनेकान्त और स्याद्वाद	३.००
२२. परमभावप्रकाशक नयचक्र	४०.००	६०. शाश्वत तीर्थधाम सम्मोदशिक्षर	६.००
२३. चिन्तन की गहराइयाँ	३०.००	६१. बिन्दु में सिन्धु	२.५०
२४. तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	२०.००	६२. जिनवरस्य नयचक्रम	१०.००
२५. धर्म के दशलक्षण	२०.००	६३. पश्चात्ताप खण्डकाव्य	१०.००
२६. क्रमबद्धपर्याय	२०.००	६४. बारह भावना एवं जिनेन्द्र वंदना	२.००
२७. तत्त्वार्थमणिप्रदीप (पूर्वार्द्ध)	२०.००	६५. कुंदकुंदशतक पद्यानुवाद	२.५०
२८. तत्त्वार्थमणिप्रदीप (उत्तरार्द्ध)	१०.००	६६. शुद्धात्मशतक पद्यानुवाद	१.००
२९. तत्त्वार्थमणिप्रदीप (सम्पूर्ण)	३०.००	६७. समयसार पद्यानुवाद	३.००
३०. बिखरे मोती	१६.००	६८. योगसार पद्यानुवाद	१.००
३१. सत्य की खोज	२५.००	६९. समयसार कलश पद्यानुवाद	३.००
३२. अध्यात्म नवनीत	१५.००	७०. प्रवचनसार पद्यानुवाद	३.००
३३. आप कुछ भी कहो	१५.००	७१. द्रव्यसंग्रह पद्यानुवाद	१.००
३४. आत्मा ही है शरण	१५.००	७२. अष्टपाहुड़ पद्यानुवाद	३.००
३५. सुक्ति-सुधा	१८.००	७३. नियमसार पद्यानुवाद	२.५०
३६. बारह भावना : एक अनुशीलन	१६.००	७४. नियमसार कलश पद्यानुवाद	५.००
३७. दृष्टि का विषय	१०.००	७५. सिद्धभक्ति	१०.००
३८. गागर में सागर	७.००	७६. अर्चना जेबी	१.५०
३९. पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव	१२.००	७७. कुंदकुंदशतक (अर्थ सहित)	५.००
४०. णमोकार महामंत्र : एक अनुशीलन	११.००	७८. शुद्धात्मशतक (अर्थ सहित)	५.००
४१. रक्षाबन्धन और दीपावली	५.००	७९-८०. बालबोध पाठमाला भाग २ से ३	७.००
४२. आचार्य कुंदकुंद और उनके पंचपरमागम	५.००	८१-८३. वीतराग विज्ञान पाठमाला १ से ३	१४.००
४३. युगपुरुष कानजीस्वामी	५.००	८४-८५. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ से २	११.००
४४. वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	१५.००	८६. भगवान महावीर और उनकी जन्मभूमि	३.००

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

1. पण्डित सिद्धार्थकुमारजी दोशी, रतलाम	11,000
2. श्रीमती अन्नीदेवी कपूरचन्दजी डैडी, भोपाल	10,000
3. श्री कैलाशचन्दजी बड़जात्या, कोल्हापुर	5,000
4. गुप्तदान हस्ते गुणमाला भारिल्ल, जयपुर	5,000
5. श्री कल्पवृक्ष चै. ट्रस्ट हस्ते शान्तिनाथ पाटील, जयसिंहपुर	5,000
6. श्रीमती पुष्पलता जैन (जीजीबाई) ध.प. अजितकुमारजी जैन, छिन्दवाड़ा	2,100
7. श्रीमती स्वानुभूति आशीष जैन, मुम्बई	2,000
8. पण्डित महावीर पाटील शास्त्री, सांगली	2,000
9. श्रीमती मंजू पाण्डया, जयपुर	1,600
10. श्रीमती अरुणा जैन ध.प. अभयकुमारजी जैन, फिरोजाबाद	1,100
11. श्री माँगीलाल अमरचन्दजी जैन, मुम्बई	1,100
12. श्री सुनीलकुमार प्रांजल जैन, प्रतापगढ़	1,001
13. स्व. श्री प्रेमचन्दजी जैन बडामलहरा की स्मृति में उनके सुपुत्र दिनेश जैन, जयपुर	1,001
14. श्रीमती शशिकला सेठी, न्यूयार्क	1,000
15. श्रीमती उज्वला उदयकुमारजी सोनाज, अकलूज	1,000
16. श्री उल्हास पुरंदर शेटे, सांगली	1,000
17. श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध.प. स्व. पूनमचन्दजी छाबड़ा की पुण्य स्मृति में, जयपुर	1,000
18. श्रीमती शिखा जैन, भोपाल	1,000
19. श्रीमती कमलाबाई भारिल्ल, जयपुर	1,000
20. श्री स्वप्निल जैन शास्त्री, भोपाल	1,000
21. श्री सनतकुमारजी जैन, भोपाल	1,000
22. श्रीमती अरुणा कुंथुनाथ सोदे, कोल्हापुर	501
23. श्रीमती गुणमाला प्रकाशचन्दजी बोहरा, भोपाल	501
24. श्रीमती चन्दनबाला अरुणकुमारजी जैन, उज्जैन	501
25. श्रीमती ममता छाबड़ा ध.प. मनोजकुमार जैन, भिण्ड	501
26. श्री अशोककुमार विनीत जैन, मुम्बई	500
27. श्री महावीरकुमार लक्षितकुमार जैन टोकर, उदयपुर	500
28. श्री संजय अरहंत जैन शास्त्री, दिल्ली	500
29. श्री शान्तिनाथजी जैन अलवर वाले, जयपुर	500
30. श्रीमती मैना नरेन्द्र जैन, जयपुर	500
31. श्री मनीष जैन, भिण्ड	101

डॉ. भारिल्ल पर प्रकाशित साहित्य

1. तत्त्ववेत्ता डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल (अभिनंदन ग्रंथ)	150.00
2. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : व्यक्तित्व और कृतित्व - डॉ. महावीरप्रसाद जैन	30.00
3. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल और उनका कथा साहित्य ह अरुणकुमार जैन	12.00
4. डॉ. भारिल्ल के साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन - अखिल जैन बंसल	25.00
5. गुरु की दृष्टि में शिष्य	5.00
6. मनीषियों की दृष्टि में : डॉ. भारिल्ल	5.00
7. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के साहित्य का समालोचनात्मक अनुशीलन ह सीमा जैन	25.00

प्रकाशनाधीन

8. शिक्षाशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के शैक्षिक विचारों का समीक्षात्मक अध्ययन ह नीतू चौधरी
9. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व ह शिखरचन्द जैन
10. धर्म के दशलक्षण एक अनुशीलन ह ममता गुप्ता
11. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल का उपन्यास 'सत्यकी खोज' में प्रतिबिम्बित तत्कालीन दिगम्बर जैन समाज का सच - राजेन्द्र जयपाल सांगावे

विषयानुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृष्ठ	क्र.	विषय	पृष्ठ
१.	मंगलाचरण	१	४०.	गाथा ५३	१४०
२.	गाथा १	२	४१.	गाथा ५४	१४२
३.	गाथा २-३	४	४२.	गाथा ५५	१४४
४.	गाथा ४-५	२४	४३.	गाथा ५६-५७	१४६
५.	गाथा ६	३२	४४.	गाथा ५८	१४७
६.	गाथा ७	३७	४५.	गाथा ५९-६१	१४८
७.	गाथा ८	४३	४६.	गाथा ६२	१५१
८.	गाथा ९	४९	४७.	गाथा ६३	१५२
९.	गाथा १०	५४	४८.	गाथा ६४	१५४
१०.	गाथा ११	५७	४९.	गाथा ६५	१५५
११.	गाथा १२-१३	६१	५०.	गाथा ६६	१५६
१२.	गाथा १४	६५	५१.	गाथा ६७	१५७
१३.	गाथा १५	६६	५२.	गाथा ६८	१५९
१४.	गाथा १६-१७-१८	७१	५३.	गाथा ६९	१६०
१५.	गाथा १९-२०	७५	५४.	गाथा ७०	१६२
१६.	गाथा २१-२२	७६	५५.	गाथा ७१	१६५
१७.	गाथा २३	७९	५६.	गाथा ७२	१६७
१८.	गाथा २४	८२	५७.	गाथा ७३	१७०
१९.	गाथा २५	८३	५८.	गाथा ७४	१७२
२०.	गाथा २६	८४	५९.	गाथा ७५	१७३
२१.	गाथा २७	८५	६०.	गाथा ७६	१७४
२२.	गाथा २८	८६	६१.	गाथा ७७	१७५
२३.	गाथा २९	८८	६२.	गाथा ७८	१७६
२४.	गाथा ३०	९३	६३.	गाथा ७९-८१	१७७
२५.	गाथा ३१	९७	६४.	गाथा ८२	१७९
२६.	गाथा ३२	९९	६५.	गाथा ८३	१८१
२७.	गाथा ३३	१०१	६६.	गाथा ८४	१८३
२८.	गाथा ३४	१०२	६७.	गाथा ८५	१८६
२९.	गाथा ३५	१०४	६८.	गाथा ८६-८८	१८९
३०.	गाथा ३६	१०५	६९.	गाथा ८९	१९३
३१.	गाथा ३७	१०७	७०.	गाथा ९०	१९६
३२.	गाथा ३८	१०९	७१.	गाथा ९१	२००
३३.	गाथा ३९	११०	७२.	गाथा ९२	२०२
३४.	गाथा ४०	११२	७३.	गाथा ९३	२०४
३५.	गाथा ४१	११५	७४.	गाथा ९४	२०५
३६.	गाथा ४२	११८	७५.	गाथा ९५	२०९
३७.	गाथा ४३	११९	७६.	गाथा ९६	२११
३८.	गाथा ४४-४५	१२०-१२१	७७.	गाथा ९७-९८	२१३
३९.	गाथा ४६-५२	१२३	७८.	गाथा ९९-१००	२१६
			७९.	गाथा १०१	२३०

कुन्दकुन्द शतक अनुशीलन

मंगलाचरण

(दोहा)

कुन्दकुन्द आचार्य की गाथायें शत एक।

संग्रह अनुशीलन करूँ नमूँ सिद्ध प्रत्येक॥

आचार्य कुन्दकुन्द की द्विशताब्दी समारोह (१ अगस्त १९८७ से ३१ दिसम्बर १९८९ तक) के अवसर पर उनके पंचपरमागमों में से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण १०१ गाथायें चुनकर, उन्हें व्यवस्थित कर कुन्दकुन्द शतक का रूप दिया गया है।

इसमें मंगलाचरण के उपरान्त सर्वप्रथम पंचपरमेष्ठी और चार आराधनाओं के एकमात्र आराध्य, परमश्रद्धेय, परमज्ञेय और परमध्येय निज भगवान आत्मा की शरण में जाने की बात कही गई है।

तदुपरान्त क्रमशः भगवान आत्मा, मोक्षमार्ग, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

उनके ही संदर्भ में यथास्थान अहिंसा, कर्मसिद्धान्त, पुण्य-पाप, गुरुओं के संदर्भ में सद्ज्ञान आदि विषयों पर भी यथायोग्य प्रकाश डाला गया है।

सर्वत्र आचार्य कुन्दकुन्द के विचारों को ही प्रस्तुत किया गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द की सबसे बड़ी देन परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत, परमपारिणामिकभावस्वरूप उस आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करना है कि जिसके दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन, जिसमें अपनापन स्थापित करने का नाम सम्यग्दर्शन; जिसके जानने का नाम सम्यग्ज्ञान, निजरूप जानने का नाम सम्यग्ज्ञान और जिसमें जमने-रमने और समा जाने का नाम सम्यक्चारित्र है।

इस कुन्दकुन्द शतक के चुनाव में भी उसी त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा की मुख्यता रखी गयी है।



कुन्दकुन्द शतक

मंगलाचरण

(9)

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं।
पणामामि वड्डमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं॥

(हरिगीत)

सुर-असुर-इन्द्र-नरेन्द्र-वंदित कर्ममल निर्मलकरण।
वृषतीर्थ के करतार श्री वर्द्धमान जिन शत-शत नमन ॥

मैं सुरेन्द्रों, असुरेन्द्रों और नरेन्द्रों से वंदित, घातियाकर्मों रूपी मल को धो डालनेवाले एवं धर्मतीर्थ के कर्ता तीर्थकर भगवान वर्द्धमान को प्रणाम करता हूँ।

प्रश्न हूँ आचार्य कुन्दकुन्द के काल में तो वर्द्धमान भगवान आठों ही कर्मों का नाश कर चुके थे, सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो चुके थे; फिर भी यहाँ उन्हें मात्र चार घाति कर्मों को धो डालनेवाला ही क्यों कहा है ?

उत्तर हूँ जिस अवस्था का नाम वर्द्धमान है अथवा जिस अवस्था में उन्होंने धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया था; वह अवस्था अरहंत अवस्था ही थी और अरहंत अवस्था में मात्र चार घातिकर्मों का ही अभाव होता है। यही कारण है कि यहाँ उन्हें चार घातिया कर्मों को धो डालनेवाला कहा गया है।

तात्पर्य यह है कि यहाँ वर्द्धमान भगवान की तीर्थकर पद में स्थित अरहंत अवस्था का ही स्मरण किया गया है, उसे ही नमस्कार किया गया है; क्योंकि उन्होंने अरहंत अवस्था में ही वर्तमान धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया था और अभी उनका ही शासनकाल चल रहा है।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्रदेव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं हूँ

इस युग के अन्तिम या चौबीसवें तीर्थकर वर्द्धमानस्वामी को वर्तमान तीर्थ के नायक होने से आचार्य कुन्दकुन्द सर्वप्रथम नमस्कार करते हुए कहते हैं कि उर्ध्वलोक के अधिपति सुरेन्द्रों, अधोलोक के अधिपति असुरेन्द्रों और मध्यलोक के अधिपति नरेन्द्रों से पूजित होने से जो तीन लोक के एकमात्र गुरु हैं; घातिकर्मरूपी मल को धो डालने से जिनमें जगत का उपकार करनेरूप अनंतशक्तिसम्पन्न परमेश्वरता प्रगट हुई है; जो तीर्थकर होने से योगियों सहित सभी का कल्याण करने में समर्थ हैं, धर्मकेकर्ता होने से अपनी शुद्धस्वरूप परिणति केकर्ता हैं और जिनका नाम ग्रहण भी परमहितकारी है हूँ उन श्री परमभट्टारक, महादेवाधिदेव, परमेश्वर, परमपूज्य वर्द्धमानस्वामी को नमस्कार करता हूँ।

देखो, यहाँ अरहंत भगवान को परमभट्टारक कहा है। अरहंत भगवान परमभट्टारक हैं, गणधरदेव भट्टारक हैं और अकलंकदेव जैसे समर्थ आचार्यों के लिए 'भट्ट' शब्द का प्रयोग किया जाता है, उन्हें भट्टाकलंकदेव कहा जाता है। इसप्रकार हम देखते हैं कि भट्ट, भट्टारक, परमभट्टारक पद बड़े ही महान पद हैं; जिनका आज कितना अवमूल्यन हो गया है।

प्रश्न हूँ यहाँ वर्द्धमान भगवान को तीन लोक का गुरु कहा गया है; किन्तु लोक में हजारों लोग ऐसे हैं, जो उन्हें नहीं मानते हैं, उनका विरोध करते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें तीन लोक का गुरु कैसे माना जा सकता है?

उत्तर हूँ जिसप्रकार भारत के प्रधानमंत्री जिस समझौते को स्वीकार कर लेते हैं, जिस समझौते पर हस्ताक्षर कर देते हैं; वह समझौता सम्पूर्ण भारतवर्ष को मान्य है हूँ ऐसा मान लिया जाता है।

उसीप्रकार तीन लोक में विद्यमान शत इन्द्रों द्वारा पूज्य हो जाने पर, शत इन्द्रों के गुरु हो जाने पर तीर्थकर तीन लोक के गुरु मान लिये जाते हैं। इसप्रकार ऊर्ध्वलोक के अधिपति सुरेन्द्रों, मध्यलोक के अधिपति नरेन्द्रों और अधोलोक के अधिपति असुरेन्द्रों द्वारा गुरु मान लेने पर भगवान महावीर भी तीन लोक के गुरु मान लिये गये हैं। ●

आत्मा ही है शरण

(२-३)

अरूहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेष्ठी ।
ते वि हु चिट्टुहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥
सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवं चेव ।
चउरो चिट्टुदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥

(हरिगीत)

अरहंत सिद्धाचार्य पाठक साधु हैं परमेष्ठि पण ।
सब आत्मा की अवस्थाएँ आत्मा ही है शरण ॥
सम्यक् सुदर्शन ज्ञान तप समभाव सम्यक् आचरण ।
सब आत्मा की अवस्थाएँ आत्मा ही है शरण ॥

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु हूँ ये पंच परमेष्ठी भगवान आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं; इसलिए मेरे लिए तो एक भगवान आत्मा ही शरण है ।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप हूँ ये चार आराधनाएँ भी आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं; इसलिए मेरे लिए तो एक आत्मा ही शरण है ।

तात्पर्य यह है कि निश्चय से विचार करें तो अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुपद एकमात्र निज भगवान आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं; अतः एकमात्र निज आत्मा ही निश्चय शरण है, वास्तविक शरण है; क्योंकि निज आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्तप की प्राप्ति होती है ।

कुन्दकुन्द शतक में संकलित ये दूसरी व तीसरी गाथायें आचार्य कुन्दकुन्द के अष्टपाहुड़ के मोक्षपाहुड़ की १०४वीं एवं १०५वीं गाथाएँ हैं ।

आचार्य कुन्दकुन्द की ये गाथाएँ अपने आप में अद्भुत महामंत्र हैं । इनमें सरल-सुबोध भाषा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात कही गयी है ।

उक्त गाथाओं की पहली ही पंक्ति में पंचपरमेष्ठी का स्मरण किया गया है । हमारे सर्वाधिक प्रिय महामंत्र णमोकार मंत्र में भी पंचपरमेष्ठी को ही नमस्कार किया है ।

णमोकार महामंत्र में ऐसी क्या विशेषता है कि जिसके कारण प्रत्येक जैन प्रतिदिन प्रातःकाल इसे एक सौ आठ बार नहीं तो कम से कम नौ बार तो बोलता ही है । संपूर्ण जैनसमाज में समानरूप से मान्य यह महामंत्र प्रत्येक जैन को संकटकाल में तो याद आता ही है, प्रत्येक शुभकार्य के आरम्भ में भी इसका स्मरण किया जाता है । प्रत्येक पालक अपने बालकों को दो-तीन वर्ष की अवस्था में ही इस महामंत्र को सिखा देता है । इसप्रकार यह जैन समाज के बच्चे-बच्चे को याद है ।

इसके अर्थ पर जब हम विचार करते हैं तो एक बात अत्यन्त स्पष्ट रूप से ज्ञात होती है कि इसमें पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कहा गया है ।

णमोकार महामंत्र का सीधा-सादा अर्थ इसप्रकार है ह

“अरहंतों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक के सर्वसाधुओं को नमस्कार हो ।”

हूँ ऐसा होने पर भी इसकी इतनी लोकप्रियता क्यों है ?

गम्भीरता से विचार करने पर एक बात अत्यन्त स्पष्टरूप से ज्ञात होती है कि इसमें किसी व्यक्ति विशेष को नमस्कार नहीं किया गया है, अपितु उन सभी महान आत्माओं का स्मरण किया गया है, जिन्होंने निज भगवान आत्मा की आराधना कर पंचपरमेष्ठी पद प्राप्त किया है, कर रहे हैं या भविष्य में करेंगे ।

व्यक्तिविशेष की महिमा से सम्प्रदाय पनपते हैं और गुणों की महिमा से धर्म की वृद्धि होती है । इसीलिए तो हमारे यहाँ कहा गया है कि हूँ

जिसने राग-द्वेष कामादिक जीते सब जग जान लिया ।
सब जीवों को मोक्षमार्ग का निस्पृह हो उपदेश दिया ॥
बुद्ध, वीर, जिन, हरि, हर, ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहो ।
भक्तिभाव से प्रेरित हो यह चित्त उसी में लीन रहो ॥

जो सर्वज्ञ है, वीतरागी है और हितोपदेशी है; हम तो उसके ही चरणों में सिर नवाते हैं, वह चाहे महावीर हो, चाहे बुद्ध हो, चाहे जिन हो, चाहे हरि हो, चाहे हर हो, चाहे ब्रह्मा हो । चाहे कोई भी हो, पर यदि वह सर्वज्ञ-वीतरागी है तो हमारे लिए वंदनीय है, प्रातःस्मरणीय है।

व्यक्तिविशेष की आराधना करनेवाला धर्म सार्वकालिक नहीं हो सकता, सार्वभौमिक नहीं हो सकता और सार्वजनिक भी नहीं हो सकता ।

व्यक्तिविशेष अनादि-अनन्त नहीं होने से सार्वकालिक नहीं होते, क्षेत्रविशेष से संबंधित होने से सार्वभौमिक नहीं होते और जातिविशेष से संबंधित होने से सार्वजनिक नहीं हो सकते ।

पंचपरमेष्ठी अनादि से होते आये हैं और अनन्त काल तक होते रहेंगे, अतः सार्वकालिक हैं; ढाई द्वीप में सर्वत्र ही होते हैं, अतः सार्वभौमिक हैं और जातिविशेष से संबंधित न होने से सार्वजनिक भी हैं ।

पंचपरमेष्ठी का आराधक होने के कारण ही जैनदर्शन सार्वकालिक, सार्वभौमिक एवं सार्वजनिक है ।

जैनदर्शन के अनुसार निज भगवान आत्मा की साधना करनेवाले ही साधु कहलाते हैं और साधुओं में ही जो वरिष्ठ होते हैं, उन्हें आचार्य और उपाध्याय पद प्राप्त होते हैं । आत्मा की साधना से पूर्णता को प्राप्त पुरुष ही अरिहंत और सिद्ध बनते हैं । इसप्रकार आत्मसाधक और अरिहंत व सिद्ध ही पंचपरमेष्ठी हैं, जिन्हें इस णमोकार महामंत्र में नमस्कार किया गया है ।

इस णमोकार महामंत्र की दूसरी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें किसी से कुछ माँग नहीं की गई है, इसमें भिखारीपन नहीं है;

पूर्णातः निःस्वार्थभाव से पंचपरमेष्ठी के प्रति भक्तिभाव प्रकट किया गया है, उसके बदले में कुछ भी चाहा नहीं गया है ।

जगत के अन्य जितने भी मंत्र हैं, उन सभी में कुछ न कुछ माँग अवश्य की जाती रही है और कुछ नहीं तो यही कहा जायेगा कि 'सर्व शांतिं कुरु-कुरु स्वाहा ।' यद्यपि इसमें व्यक्तिगतरूप से कुछ भी नहीं चाहा गया है, सबके लिए पूर्ण शान्ति की कामना की गई है, जो बहुत अच्छी बात है; क्योंकि जो कुछ चाहा गया है, वह सबके लिए चाहा गया है, सबके हित के लिए चाहा गया है; विषय-कषाय की पूर्ति की कामना नहीं की गई है, शांति की ही कामना की गई है, तथापि चाहा तो गया ही है, माँग तो की ही गई है ।

यह तो आप जानते ही हैं कि भारतीय संस्कृति में माँगने को सर्वाधिक बुरा बताया गया है । कहा गया है कि ह

**रहिमन वे नर मर गये, जो नर माँगन जाँय ।
उनसे पहले वे मरे, जिन-मुख निकसत नाँहि ॥**

उक्त छन्द में माँगनेवालों को मरे हुए के समान बताया गया है । कहा गया है कि जो किसी के दरवाजे पर माँगने जाते हैं, समझ लो वे लोग मर ही गये हैं; क्योंकि माँगना स्वाभिमान खोये बिना संभव नहीं है और जिनका स्वाभिमान समाप्त हो गया है, वे जिन्दा होकर भी मृतक समान ही हैं ।

इसमें एक बात और भी कही गई है कि माँगनेवाले तो मृतक समान हैं ही, पर माँगने पर मना करनेवाले तो उनसे भी गये बीते हैं । उन्हें तो माँगनेवालों से भी पहले मर गया समझो ।

माँगने पर तो विष्णु भगवान को भी बावनिया बनना पड़ा था, फिर औरों की तो बात ही क्या है ? ऐसी भारतीय संस्कृति में कि जिसमें माँगने को इतना हीन समझा गया हो; उसमें, जिसमें कुछ भी माँग प्रस्तुत न की गई हो, वह मंत्र महामंत्र बन गया तो आश्चर्य की बात क्या है ?

कुछ लोग कहते हैं कि णमोकार महामंत्र में बड़ी ही उदारता से लोक के सभी साधुओं को नमस्कार किया गया है। उदारता की व्याख्या करते हुए वे यह कहने से भी नहीं चूकते हैं कि जैन साधु और जैनेतर साधुओं को इसमें बिना भेदभाव किये समानरूप से नमस्कार किया गया है।

क्या 'णमो लोए सव्वसाहूणं' का सचमुच यही भाव है ? या फिर जैनेतरों को प्रसन्न करने के लिए यह कह दिया जाता है।

यद्यपि यह बात सत्य है कि इसमें किसी साधु विशेष का नाम लेकर नमस्कार नहीं किया गया है, किसी सम्प्रदाय विशेष का भी नाम नहीं लिया गया है, किसी धर्म का भी नाम नहीं लिया गया है; तथापि इसमें वे ही साधुगण आते हैं, जो पंचपरमेष्ठी में शामिल हैं, अट्टाईस मूलगुणों के धारी हैं; जो जैन परिभाषा के अनुसार छठवें-सातवें गुणस्थान की भूमिका में झूलनेवाले हैं या उससे भी ऊपर हैं।

अतः यह सुनिश्चित है कि 'णमो लोए सव्वसाहूणं' में वीतरागी भावलिङ्गी जैन संत ही आते हैं, क्योंकि जैन परिभाषा के अनुसार वे ही लोक के सर्वसाधु हैं, अन्य नहीं।

सामान्यरूप से पंचपरमेष्ठी का स्मरण करना, नमस्कार करना प्रत्येक जैन का प्राथमिक कर्तव्य है, जिसे प्रत्येक जैन प्रतिदिन णमोकार महामंत्र के जाप के माध्यम से निभाता ही है और निभाना भी चाहिए।

जिनसे हमारा उपकार न हुआ हो, जिनसे हमारा साक्षात् परिचय भी न हो; पर जो भी परमपद में स्थित हैं, पंचपरमेष्ठी में आते हैं; वे सभी हमारे लिए समानरूप से पूज्य हैं, उनमें भेदभाव करना उचित नहीं है। उन सभी को समानरूप से स्मरण करना ही 'णमो लोए सव्वसाहूणं' पद का मूल प्रयोजन है।

हमारे प्रत्यक्ष उपकारी तो वे ज्ञानी गृहस्थ धर्मात्मा भी हो सकते हैं, जो अभी पंचपरमेष्ठी में शामिल नहीं हैं, वे भी पूज्य तो हैं ही, पर पंच-परमेष्ठी के समान पूज्य नहीं।

अष्टद्रव्य से पूज्य तो पंचपरमेष्ठी ही हैं। उन्हीं को णमोकार महामंत्र में स्थान प्राप्त है, ज्ञानी गृहस्थ धर्मात्माओं को नहीं।

इस संदर्भ में एक बात और भी उल्लेखनीय है कि णमोकार महामंत्र की महिमा बतानेवाली गाथा में णमोकार मंत्र को सब पापों का नाश करनेवाला कहा गया है। वह गाथा मूलतः इसप्रकार है ह

“ऐसो पंच णमोयारो सव्व पावप्पणासणो।

मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं होहि मंगलम् ॥

यह नमस्कार महामंत्र सब पापों का नाश करनेवाला और सब मंगलों में पहला मंगल है।”

इस गाथा के अर्थ समझने में भी भारी भूल हो जाती है। सब पापों का नाश करने का अर्थ यह समझा जाता है कि भूतकाल में हमने जो भी पाप किए हैं, इस महामंत्र के उच्चारण मात्र से उन सब पापों का नाश बिना फल दिए ही हो जाता है।

यदि ऐसा है तो फिर हम सभी लोग प्रतिदिन इसे बोलते ही हैं, अतः हमारे पुराने पापों का नाश हो जाना चाहिए था, पर ऐसा तो दिखाई नहीं देता है, क्योंकि प्रतिदिन णमोकार महामंत्र बोलने वालों के भी पाप का उदय देखा जाता है, पाप के उदय में उन्हें अनेक प्रतिकूलताओं का सामना करना पड़ता है। यह सब हम प्रतिदिन देखते हैं, प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

इससे बचने के लिए यदि यह कहा जाये कि हमें इस पर पक्का भरोसा नहीं है, विश्वास नहीं है; अतः हमारे पापों का नाश नहीं होता है।

अरे भाई, न सही हमें विश्वास, पर क्या किसी को भी विश्वास नहीं है ? लाखों लोग प्रतिदिन णमोकार महामंत्र बोलते हैं और लगभग सभी के थोड़ा-बहुत पाप का उदय देखने में आता ही है। पाप के उदय में प्रतिकूलतायें भोगते हुए हम सभी को सदा प्रत्यक्ष देखते ही हैं।

जाने दो णमोकार महामंत्र बोलनेवालों को, पर णमोकार महामंत्र

में जिन्हें नमस्कार किया गया है, उन्हें भी तो पापोदय देखने में आता है। हमारे वीतरागी सन्तों पर उपसर्ग होते हैं, वे सभी पापोदय के ही तो परिणाम हैं। जब उनके ही पापों का नाश नहीं हुआ तो उनका नाम लेने से हमारे पापों का नाश कैसे होगा ?

यह एक ऐसा प्रश्न है कि जो प्रत्येक विचारक के हृदय को आंदोलित करता है। इस पर गंभीरता से विचार करते हैं तो यही प्रतीत होता है कि जो व्यक्ति जिस समय इस महामंत्र का भावपूर्वक, समझपूर्वक स्मरण करता है, उसके हृदय में उस समय कोई पापभाव उत्पन्न ही नहीं होता, यही सब पापों का नाश होना है।

प्रश्न है यदि 'उस समय पापभाव उत्पन्न नहीं होते' मात्र इतना ही आशय है तो फिर सब पापों के नाश की बात क्यों कही गई है ?

उत्तर है पाप अनेक प्रकार के हैं; हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। ये सभी पापभाव णमोकार मंत्र के स्मरण के काल में उत्पन्न नहीं होते हैं इसकारण ही 'सब' शब्द का प्रयोग है। यहाँ 'सब' शब्द का अर्थ वर्तमान में उत्पन्न होनेवाले हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के परिणाम ही हैं। इसमें भूतकाल में किये गये पापों से कोई तात्पर्य नहीं है।

यदि भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी द्रव्य-पाप एवं भाव-पाप केवल णमोकार मंत्र के बोलने मात्र से नष्ट हो जाते होते तो फिर आत्मध्यानरूप तप की क्या आवश्यकता थी, उपशम श्रेणी-क्षपक श्रेणी माँडने की क्या आवश्यकता थी ? सभी कर्मों का नाश णमोकार मंत्र के बोलने से ही हो जाता।

इसीप्रकार यदि णमोकार मंत्र बोलने मात्र से ही सभी पाप नाश को प्राप्त हो जाते तो फिर कोई पाप करने से डरता ही क्यों ? दिनभर जी-भरकर पाप करो और सायं को णमोकार मंत्र बोल लो, सब पापों का नाश हो ही जायेगा। इसप्रकार तो यह महामंत्र पापियों को अभयदान देनेवाला हो जायेगा। अतः यही सही है कि जिस समय हम णमोकार

मंत्र बोलते हैं, उस समय कोई पापभाव हमारे मन में भी उत्पन्न नहीं होता। यह बात अनुभवसिद्ध भी है; क्योंकि जब-जब भी हमारा मन पंचपरमेष्ठी के स्मरण-चिन्तन में रहता है, तबतक कोई पापभाव मन में नहीं आता, परिणाम निर्मल ही रहते हैं।

इस पर यदि कोई कहे कि णमोकार महामंत्र के स्मरण से भूतकाल के पापों का नाश नहीं होता तो णमोकार मंत्र बोलने से लाभ ही क्या है? क्या अकेले वर्तमान पापभावों से बचने के लिए ही इसका जाप करें? क्या इस महामंत्र का इतना ही माहात्म्य है ? इस भाव तो हमें यह नहीं पुसाता।

अरे भाई, यह बात तो ऐसी ही हुई कि जैसे किसी सेठ ने सायं ६ बजे से प्रातः ६ बजे तक के लिए रात की चौकीदारी पर एक चौकीदार रखा, पर उसके यहाँ दिन के १२ बजे चोरी हो गई। तब वह कहने लगा कि जब दिन को १२ बजे चोरी हो गई तो चौकीदार रखने से क्या लाभ है ? हटाओ इस चौकीदार को।

पर भाई, क्या यह सोचना सही है ? अरे रात का चौकीदार रखा है तो रात को चोरी नहीं हुई, भले ही दिन को हो गई। इससे अच्छी चौकीदारी और क्या हो सकती है कि चौकीदार के कारण चोर रात को तो चोरी न कर सका, पर दिन को चोरी करने में सफल हो गया। इससे तो चौकीदार की उपयोगिता ही सिद्ध हुई है। यदि आप चाहते हैं कि भविष्य में दिन को भी चोरी न हो तो एक चौकीदार दिन को भी रखो।

इसीप्रकार जब यह सिद्ध हो गया कि जिस समय णमोकार महामंत्र का स्मरण होता रहा, उस समय पापबंध नहीं हुआ; तब यदि हम चाहते हैं कि हमें कभी भी पापबंध न हो तो हमें सदा ही पंचपरमेष्ठी का स्मरण रखना चाहिए। यही सद्दिवेक है, सच्ची समझ है।

जिस कार्य का जितना फल है, उससे अधिक मान लेने से तो कुछ कार्य सिद्ध होनेवाला नहीं है।

णमोकार महामंत्र में कुछ माँगा नहीं जाता है, तथापि उसके स्मरण

से सभी पापभावों से बच जाते हैं। यह सब पंचपरमेष्ठी के स्मरण का ही प्रताप है। आचार्य कुन्दकुन्द की उक्त गाथा में भी बिना किसी माँग के पंचपरमेष्ठी का स्मरण किया गया है। इसलिए मैं कहता हूँ कि यह गाथा आचार्य कुन्दकुन्द का णमोकार महामंत्र है।

यद्यपि णमोकार महामंत्र में कुछ माँग नहीं गया है, पर उसके बाद आनेवाली पंक्तियों में अरहंतादिक की शरण में जाने की बात अवश्य कही गई है। कहा गया है कि ह

“चत्वारि सरणं पव्वज्जामि, अरहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।”

उक्त पंक्तियों में अरिहंत, सिद्ध, साधु और केवली भगवान द्वारा कहे गये धर्म की शरण में जाने की बात कही गयी है। शरण में जाने की बात के माध्यम से शरण की माँग तो कर ही ली है, पर आचार्य कुन्दकुन्द ने तो निज भगवान आत्मा की शरण में जाने की बात की है।

“तम्हा आदा हु मे सरणम्” कहकर वे निज आत्मा की शरण में जाने की ही बात करते हैं। यदि पंचपरमेष्ठी से कुछ माँग न करने के कारण ही णमोकार महामंत्र महान है तो फिर आचार्य कुन्दकुन्द की उक्त गाथा निश्चितरूप से महान है।

इस गाथा में वे आत्मा की शरण में जाने की बात को सयुक्ति सिद्ध करते हैं। इस बात की चर्चा करने के पूर्व में णमोकार मंत्र के बाद आने वाले मंगल, उत्तम और शरण बतानेवाले पाठ के संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ।

णमोकार महामंत्र में तो पाँचों ही परमेष्ठियों का स्मरण किया गया है; पर मंगल, उत्तम और शरण बताते समय आचार्य और उपाध्याय को छोड़ दिया है। क्या आप जानते हैं कि ऐसा क्यों किया गया है ?

मुक्ति प्राप्त करने के लिए साधु होना अनिवार्य है, अरहंत होना अनिवार्य है, सिद्ध होना भी अनिवार्य है, क्योंकि सिद्ध होना ही तो

मुक्ति प्राप्त करना है; पर मुक्त होने के लिए आचार्य और उपाध्याय होना अनिवार्य नहीं है। यही कारण है कि मंगल, उत्तम और शरण की चर्चा में उन्हें शामिल नहीं किया गया है।

न केवल इतनी ही बात है कि मुक्ति के लिए आचार्यपद आवश्यक नहीं है, अपितु बात तो यहाँ तक है कि आचार्य जबतक आचार्यपद पर हैं, तबतक उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। उनके अनेक साधु शिष्यों को केवलज्ञान हो जाता है, पर उन्हें नहीं होता। जब वे आचार्यपद छोड़कर सामान्य साधुपद धारण करते हैं और आत्मसन्मुख होते हैं, तभी केवलज्ञान होता है।

यद्यपि यह सत्य है कि आचार्य और उपाध्याय परमेष्ठियों को सर्व साधुओं में शामिल कर लिया गया है, उन्हें छोड़ा नहीं गया है; तथापि उन्हें गौण तो किया ही गया है और गौण करने का एकमात्र कारण मुक्ति प्राप्त करने में उक्त पदों की कोई उपयोगिता नहीं होना ही है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि साधुओं में आचार्य उपाध्याय को शामिल करने के स्थान पर आचार्यों में साधुओं को शामिल करना चाहिए; क्योंकि आचार्य बड़े हैं, साधुओं के भी गुरु हैं, उनके भी पूज्य हैं। अतः आचार्यों के नाम का स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए था और साधुओं को उसमें शामिल कर लेना चाहिए था।

अरे भाई, यहाँ छोटे-बड़े का सवाल नहीं है। बात यह है कि आचार्य परमेष्ठी साधु परमेष्ठी भी हैं ही, पर साधु परमेष्ठी आचार्य नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि आचार्य परमेष्ठी अपने ३६ मूलगुण के धारी तो होते ही हैं तथा साधुओं के २८ मूलगुण भी उनके होते ही हैं, किन्तु साधु मात्र २८ मूलगुणों के ही धारी होते हैं, उनके आचार्यों के ३६ मूलगुण नहीं होते।

बात यह है कि आचार्य, साधु और आचार्य दोनों एकसाथ हैं, पर साधु मात्र साधु ही हैं; अतः उनका समावेश आचार्य पद में संभव नहीं है।

यदि कोई कहे कि एक ओर तो आप कहते हैं कि आचार्य और उपाध्यायों को मंगल, उत्तम और शरण में शामिल नहीं किया गया है, क्योंकि ये पद मुक्तिमार्ग में आवश्यक नहीं हैं, साधक नहीं हैं, अपितु बाधक हैं और दूसरी ओर कहते हैं कि उन्हें साधुपद में शामिल कर लिया गया है। क्या ये परस्पर विरोधी बातें नहीं हैं ?

नहीं; क्योंकि ये तो विभिन्न अपेक्षाओं का दिग्दर्शन है, इसमें कोई विरोधाभास नहीं है। दूसरी बात यह भी तो है कि जो आचार्यों को साधु पद में शामिल किया गया, वह उनके साधुपद के कारण ही किया गया है, आचार्यपद के कारण नहीं।

अतः मुख्य बात तो यही है कि मुक्ति के मार्ग में अनावश्यक होने से आचार्य और उपाध्याय पद को गौण किया गया है। गजब की बात तो यह है कि आचार्यों और उपाध्यायों से दीक्षादि ली जाती है, उपदेश की प्राप्ति होती है, फिर भी उनकी शरण में जाने को तो गौण किया है और जिन सिद्ध व साधु परमेष्ठी से कोई प्रत्यक्ष उपकार संभव नहीं होता, उनकी शरण चाही गयी है। इससे भी यही प्रतीत होता है कि इसमें मोक्ष और मोक्षमार्ग के प्रति अति बहुमान व्यक्त करना ही मूल उद्देश्य है, शरण में जाने का अर्थ इससे अधिक कुछ नहीं।

मुक्ति और मुक्तिमार्ग में अरहंत, सिद्ध और साधुपद तो आते हैं, पर आचार्य और उपाध्याय पद आना अनिवार्य नहीं है। आचार्य पद तो प्रशासन का पद है और उपाध्याय पद अध्यापन का पद है; दोनों में ही माथेपर भार रहता है। जबतक माथेपर भार रहेगा, तबतक क्षपकश्रेणी माँड़ना संभव नहीं है, क्षपकश्रेणी निर्भार व्यक्तियों को ही होती है।

उक्त सम्पूर्ण विवेचन से सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि णमोकार महामंत्र में जो शरण में जाने की बात कही गई है, वह भी कुछ माँग नहीं है; अपितु बहुमान की बात ही है; तथापि पर की शरण की बात कही तो गई है न, पर आचार्य कुन्दकुन्द तो पर की शरण में जाने की बात ही नहीं करते। वे तो साफ-साफ कहते हैं ह

“अरहंत सिद्धाचार्य पाठक, साधु हैं परमेष्ठी पण।
सब आत्मा की अवस्थाएँ, आत्मा ही है शरण ॥”

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु ये सब हैं क्या ? आखिर एक आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं न ? एक निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही उत्पन्न हुई अवस्थाएँ हैं न ? तो फिर हम इनकी शरण में क्यों जावें, हम तो उस भगवान आत्मा की ही शरण में जाते हैं, जिसकी ये अवस्थायें हैं, जिसके आश्रय से ये अवस्थायें उत्पन्न हुई हैं।

सर्वाधिक महान, सर्वाधिक उपयोगी, ध्यान का ध्येय, श्रद्धान का श्रद्धेय एवं परम शुद्धनिश्चयनरूप ज्ञान का ज्ञेय तो निज भगवान आत्मा ही है, उसकी शरण में जाने से ही मुक्ति के मार्ग का आरंभ होता है, मुक्तिमार्ग में गमन होता है और मुक्तिमहल में पहुँचना संभव होता है।

सिद्ध भगवान तो मुक्त ही हैं तथा अरहंत, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु मुक्तिमार्ग के पथिक हैं तथा सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ह इन तीनों की एकता मुक्तिमार्ग है। मुक्तिदशा, मुक्तिमार्ग के पथिकरूप साधकदशा तथा मुक्तिमार्गरूप साधनदशा सभी आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं। ये सभी अवस्थायें निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही उत्पन्न होती हैं। इसलिए निज भगवान आत्मा की शरण में जाना ही सुखी होने का एकमात्र उपाय है।

पंचपरमेष्ठी हमारे लिए पूज्य हैं, प्रातःस्मरणीय हैं, वंदनीय हैं, अभिनंदनीय हैं और सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र साक्षात् मुक्ति का मार्ग हैं। हमें परमेष्ठी पद में स्थित होना है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय की आराधना ही पंचपरमेष्ठी पद में स्थित होना है।

इसप्रकार हमारे जीवन में पंचपरमेष्ठी एवं रत्नत्रय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पर ये पंचपरमेष्ठी पद और रत्नत्रय धर्म सभी आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं। इन्हें प्राप्त करने के लिए निज भगवान आत्मा का ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान आवश्यक है। अतः यहाँ आत्मा की ही शरण में जाने की बात कही गई है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि शरण में जाने की बात तो दो द्रव्यों के बीच में ही संभव है, स्वयं का स्वयं की शरण में जाना किसप्रकार संभव है ?

अरे भाई ! निज भगवान आत्मा को जानना, पहिचानना और उसमें जमना-रमना ही आत्मा की शरण में जाना है।

त्रिकालीध्रुव निज भगवान आत्मा को जानना और यह जानना कि 'यही मैं हूँ' निज भगवान आत्मा की सम्यग्ज्ञानरूप उपासना है, निज भगवान आत्मा की शरण में जाना है।

त्रिकालीध्रुव निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित करना ह 'ये ही मैं हूँ' ह ऐसी दृढ़ प्रतीति करना ही आत्मा की सम्यग्दर्शनरूप उपासना है, त्रिकालीध्रुव निज भगवान आत्मा को निजरूप जानना, सम्यग्ज्ञानरूप उपासना है और त्रिकालीध्रुव निज भगवान आत्मा में लीन हो जाना, रम जाना, जम जाना, समा जाना, उसी का ध्यान करना, निज भगवान की सम्यक्चारित्ररूप उपासना है, निज भगवान आत्मा की शरण में जाना है।

इसी बात को समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में समागत १५ वें कलश में इसप्रकार कहा है ह

(अनुष्टुप)

“एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः ।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ॥

(हरिगीत)

है कामना यदि सिद्धि की ना चित्त को भरमाइये ।
यह ज्ञान का घनपिण्ड चिन्मय आत्मा अपनाइये ॥
बस साध्य-साधक भाव से इस एक को ही ध्याइये ।
अर आप भी पर्याय में परमात्मा बन जाइये ॥१५॥

स्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक पुरुष साध्यभाव और साधकभाव से इस ज्ञान के घनपिण्ड भगवान आत्मा की ही उपासना करें ।”

यहाँ आचार्य महाराज उपदेश दे रहे हैं, आदेश दे रहे हैं कि हे आत्मार्थी पुरुषो ! आत्मा का कल्याण चाहनेवाले सत्पुरुषो !! तुम निरन्तर ज्ञान के घनपिण्ड आनंद के रसकंद इस भगवान आत्मा की ही उपासना करो । उपासना करने योग्य तो एकमात्र यह ज्ञान का घनपिण्ड और आनंद का रसकंद अपना भगवान आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं।

यहाँ आत्मा की उपासना करने का तात्पर्य निज आत्मा की पूजा-भक्ति करने से नहीं है, स्तुति-वंदना करने से भी नहीं है, नमस्कारादि करने से भी नहीं है; अपितु उसे सही रूप में जानने से है, पहिचानने से है, उसका अनुभव करने से है, उसी में समा जाने से है; उसी का नित्य ध्यान करने से है, ध्यान रखने से है; उसको ही सर्वस्व मानने से है; उसी में पूर्णतः समर्पित हो जाने से है। यही निज भगवान आत्मा की उपासना की विधि है, आराधना की विधि है, साधना की विधि है।

निज भगवान आत्मा की यह उपासना दो प्रकार से होती है ह

१. साध्यभाव से और २. साधक भाव से ।

साधकदशा व साध्यदशा को निम्नानुसार पाँच प्रकार से समझ सकते हैं ह

१. चौथे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक साधकदशा है और सिद्ध अवस्था साध्यदशा है ।

२. चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक साधकदशा है और अरहंत और सिद्ध दशा साध्यदशा है ।

३. पर्याय में पूर्णता की प्राप्ति हो जाना साध्यदशा है और आत्मोपलब्धि होकर पूर्णता की ओर अग्रसर होना साधकदशा है ।

४. आत्मा में उपयोग का केन्द्रित होना और फिर बाहर आ जाना ह इसप्रकार बार-बार अन्दर जाना और बाहर आना साधकदशा है और उपयोग का निरन्तर आत्मोन्मुख ही रहना, बाहर आना ही नहीं साध्यदशा है ।

५. शुभोपयोग और शुद्धोपयोग में झूलना साधकदशा है और शुद्धोपयोग में अनन्तकाल तक के लिए समा जाना साध्यदशा है।

आत्मा की सिद्धदशा अमल भी है और अचल भी है; परन्तु अरहंत अवस्था तो अमल है, पर अचल नहीं; क्योंकि उसमें योग के निमित्त से आत्मप्रदेशों में चंचलता पाई जाती है, चलाचलपना पाया जाता है। इस दृष्टि से विचार करें तो अकेली सिद्धदशा ही साध्यभाव है, आत्मज्ञानी की शेष सभी दशाएँ साधकभाव में आती हैं।

पूर्ण वीतरागी व सर्वज्ञ हो जाने से, अमलता प्राप्त हो जाने से तथा उपयोग के निरन्तर आत्मसन्मुख ही रहने से, निरन्तर शुद्धोपयोगी होने से जब अरहंत भगवान को भी साध्यदशा में ले लेते हैं तो फिर उसके पहले के धर्मात्मा जीव साधकदशा वाले कहे जाते हैं।

उपयोग का आत्मसन्मुख होना ही आत्मा की सच्ची उपासना है। जब वह उपयोग निरन्तर आत्मसन्मुख होता है तो उस उपासना को साध्यभाव की उपासना कहते हैं और जब वह कभी-कभी आत्मसन्मुख होता है तो उसे साधकभाव की उपासना कहते हैं।

पर एक बात तो निश्चित ही है कि आत्मा की उपासना तो आत्मसन्मुख होने में ही है, आत्मज्ञान में ही है, आत्मध्यान में ही है, अपनेमें अपनापन स्थापित करने में ही है। इन्हीं क्व नाम निश्चयस्त्रय है ह्व निश्चय-सम्यग्दर्शन, निश्चय-सम्यग्ज्ञान और निश्चय-सम्यक्चारित्र है।

तात्पर्य यह है कि निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति ही निज भगवान आत्मा की उपासना है, निज भगवान आत्मा की आराधना है, निज भगवान आत्मा की साधना है, निज भगवान आत्मा की शरण में जाना है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि निरन्तर आत्मध्यान की दशा ही साध्यभाव की उपासना है और कभी-कभी आत्मध्यान की दशा का होना, साधकभाव की उपासना है।

आत्मा के कल्याण के इच्छुक पुरुषों को, चाहे वे साध्यभाव से उपासना करें या साधकभाव से उपासना करें, पर उपासना तो नित्य निज भगवान आत्मा की ही करना चाहिए।

यह निज भगवान आत्मा की उपासना ही आत्मा की शरण में जाना है। उक्त गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द ने इसी की भावना भायी है।

उक्त गाथाएँ मोक्षपाहुड़ की १०४ एवं १०५वीं गाथाएँ हैं और उसके ठीक पहले १०३वीं गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं ह

“णविएहिं जं णविज्जइ झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं।
थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह॥

(हरिगीत)

जिनको नमें थुति करे जिनकी ध्यान जिनका जग करे।

वे नमें ध्यावें थुति करें तू उसे ही पहिचान ले॥१०३॥

हे भव्यजीवो ! जिनको सारी दुनिया नमस्कार करती है, वे भी जिसको नमस्कार करें, जिनकी सारी दुनिया स्तुति करती है, वे भी जिसकी स्तुति करें एवं जिनका सारी दुनिया ध्यान करती है, वे भी जिसका ध्यान करें ह्व ऐसे देहदेवल में विराजमान भगवान आत्मा को जानो।”

वंदनीय पुरुषों द्वारा भी वंदनीय, स्तुति योग्य पुरुषों द्वारा भी स्तुत्य एवं जगत के ध्येय पुरुषों का भी ध्येय यह भगवान आत्मा ही शरण में जाने योग्य है ह्व यह जानकर ही आत्मा की शरण में जाने की बात कही गयी है। पंचपरमेष्ठी भगवन्तों ने भी जिसकी शरण को ग्रहण कर रखा है और रत्नत्रय धर्म भी जिसकी शरण का ही परिणाम है; उस भगवान आत्मा को ही जानने की प्रेरणा दी गई है इस गाथा में। उसे ही जानने-पहिचानने का आदेश दिया है आचार्य भगवन्त ने और उसी में जम जाने, रम जाने का उपदेश आता है तीर्थकरों की दिव्यध्वनि में।

यह बात द्वादशांगरूप दिव्यध्वनि का सार है, यही बात लाख बात

की बात है और यही कोटि ग्रन्थों का सार है। जैसा निम्नांकित पंक्तियों में कहा गया है ह

लाख बात की बात यहै निश्चय उर लाओ।

तेरि सकल जग दन्द-फन्द निज आतम ध्याओ॥^१

कोटि ग्रंथ को सार यही है ये ही जिनवाणी उचरो है।

दौल ध्याय अपने आतम को मुक्ति रमा तोय वैग वरै है॥^२

उक्त पंक्तियों में अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि अधिक बात करने से क्या लाभ है, लाख बात की बात तो यह है कि जगत के दन्द-फन्द प्रपंचों को छोड़कर एक निज भगवान आत्मा का ही ध्यान धरो। उक्त पंक्ति में प्रकारान्तर से यह भी कह दिया गया है कि एक आत्मा के ध्यान के अतिरिक्त जो भी है, वह सभी दन्द-फन्द ही हैं।

करोड़ ग्रंथों का सार भी यही है और सम्पूर्ण जिनवाणी में भी यही आया है, सम्पूर्ण जिनागम में भी यही कहा है कि अपने आत्मा का ध्यान धरो। यदि तुम ऐसा कर सके तो मुक्तिरूपी कन्या अतिशीघ्र ही तुम्हारा वरण करेगी, तुम्हारे गले में वरमाला डाल देगी।

मुक्तिरूपी कन्या प्राप्त करने के लिए तुम्हें मुक्तिरूपी कन्या का ध्यान धरने की आवश्यकता नहीं है, तुम तो स्वयं का ध्यान धरो। निज भगवान आत्मा को ही ज्ञान का ज्ञेय बनाओ, ध्यान का ध्येय बनाओ; मुक्तिरूपी कन्या स्वयं उपस्थित होकर तुम्हारा वरण करेगी, तुम्हारे गले में वरमाला डालेगी।

मुक्तिरूपी कन्या उनका वरण नहीं करती है, जो उसका ध्यान धरते हैं, किन्तु उनका ही वरण करती है, जो निज भगवान आत्मा का ध्यान धरते हैं। वह आत्मा पर रीझनेवालों पर ही रीझती है।

तात्पर्य यह है कि मुक्ति, मुक्ति का ध्यान धरनेवालों को प्राप्त नहीं

१. पण्डित दौलतराम : छहढाला, चौथी ढाल, छन्द ९

२. पण्डित दौलतराम : भजन की पंक्ति

होती, त्रिकालीध्रुव निज भगवान आत्मा का ध्यान धरनेवालों को ही प्राप्त होती है। इसीलिए इन गाथाओं में निज भगवान आत्मा की शरण में जाने की बात कही गई है।

एक युवक जीवनसाथी बनाने के लिए एक युवती को देखने गया। दोनों ही अत्यन्त सुन्दर और सब प्रकार से सुयोग्य थे। एक-दूसरे को देखकर दोनों ही एक-दूसरे पर मोहित हो गये। यद्यपि दोनों ने ही एक-दूसरे को पसन्द कर लिया था, पर कुछ देर तक कोई कुछ नहीं बोला।

भारतीय युवितयाँ तो सहज संकोची होती ही हैं। अतः पहले लड़की के बोलने का तो कोई सवाल ही नहीं था, पर युवक भी उसकी सुन्दरता देखकर स्तब्ध-सा रह गया। वह उस युवती पर आवश्यकता से अधिक रीझ गया था। अतः उसके हृदय में आशंकाओं के बादल मंडराने लगे। वह सोचने लगा ह्व यह तो बहुत ही सुन्दर है, मुझे तो यह पूर्णतः पसन्द आ गई है, पर कहीं ऐसा न हो जाये कि यह मुझे नापसन्द कर दे। यदि इसने मुझे नापसन्द कर दिया तो मेरा तो जीना ही मुश्किल हो जावेगा।

वह इस भय से आक्रान्त हो गया कि कहीं यह मुझे अस्वीकार न कर दे ह्व इस हीन भावना से ग्रस्त वह उससे और कोई बात न कर व्याकुल होकर पूछने लगा ह्व “मैं तुम्हें पसन्द आया या नहीं ?”

स्वभाव से संकोची भारतीय ललना कुछ भी न बोल सकी तो उसकी आशंका और भी प्रबल हो उठी; अतः वह और भी अधिक दीन हो गया और अत्यन्त मायूसी से कहने लगा ह्व

“क्या मैं तुम्हें सचमुच ही पसन्द नहीं आया ?”

उसके बार-बार पूछने पर भी वह लड़की हाँ या न तो न कह सकी, पर नीची निगाह किए हुए ही धीरे से बोली ह्व

“क्या मैं आपको पसन्द आ गई हूँ ?”

“हाँ, हाँ; एकदम। तुम तो देवांगनाओं से भी अधिक सुन्दर हो, पर मैं तुम्हें पसन्द आया या नहीं ?” ह्व एकदम अस्त-व्यस्त-सा युवक बोला, पर लड़की नीची निगाह किए मात्र मुस्कुरा कर ही रह गई।

सुसभ्य एवं सुसंस्कृत भारतीय कन्यायें अपनी सहमति इसप्रकार ही व्यक्त करती हैं। **मौनं सम्मति लक्षणम्** ह्व मौन सम्मति का ही लक्षण है ह्व इस बात को जाननेवाले विवेक के धनी तो सब समझ ही जाते हैं, पर आकुल-व्याकुल वह युवक कुछ भी न समझ सका, अपितु उसकी आशंका और भी अधिक प्रबल हो उठी। अतः घबड़ाकर वह उसके हाथ जोड़ने लगा, पैर पड़ने लगा और कहने लगा कि तुम मुझे अस्वीकार न कर देना, अन्यथा मेरा जीना ही मुश्किल हो जावेगा।

उसकी यह व्याकुलता देखकर कन्या उससे विरक्त हो गई; क्योंकि उसे तो ऐसा पति चाहिए था कि जिसकी वह विनय करे, पर यहाँ तो उल्टा ही होने लगा था।

जिसप्रकार ऐसे हीन व्यक्तित्व के धनी पुरुषों को भारतीय ललनाएँ पसन्द नहीं करती, उसीप्रकार मुक्ति पर्याय पर भी इस सीमा तक रीझने वालों को मुक्ति नहीं मिलती। जिसप्रकार अपने पौरुष से गौरवान्वित पुरुषों के गले में ही सुयोग्य कन्यायें वरमाला डालती हैं; उसीप्रकार भगवान् स्वरूप अपने आत्मा पर रीझें पुरुषों के गले में ही मुक्तिरूपी कन्या वरमाला डालती है।

जो व्यक्ति मोक्ष अर्थात् सिद्धदशा की सुखकरता-सुन्दरता देखकर-जानकर उसकी महिमा से इतने आक्रान्त हो जाते हैं कि उन्हें अपना स्वभाव ही तुच्छ भासित होने लगता है; वे उस युवक के समान हीन भावना से ग्रस्त हो जाते हैं और **मुक्ति (सिद्धदशा)** की कामना में पंच-परमेष्ठी के सामने गिड़गिड़ाने लगते हैं ह्व ऐसे लोगों को मुक्ति प्राप्त नहीं होती।

दीन-हीन व्यवहार में लीन पुरुषों को मुक्ति प्राप्त नहीं होती। इस बात को बनारसीदासजी इसप्रकार व्यक्त करते हैं ह्व

“लीन भयौ विवहार में उकति न उपजै कोइ।
दीन भयौ प्रभु पद जपै मुकति कहाँ सौं होइ ? ॥”
“प्रभु सुमरो पूजौ पढौ, करौ विविध विवहार।
मोख सरूपी आतमा, ज्ञानगम्य निरधार ॥”

इसीकारण आचार्य कुन्दकुन्द भी उक्त गाथाओं में अन्य सब विकल्पों को तोड़कर निज भगवान् आत्मा की शरण में जाने की बात करते हैं। वे कहते हैं कि जब पंचपरमेष्ठी पद और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं तो फिर हम आत्मा की ही शरण में क्यों न जायें, यहाँ-वहाँ क्यों भटकें ?

अरे भाई, पर भगवान् या पर्यायरूप भगवान् की शरण में जानेवाले भगवान्दास बनते हैं, भगवान् नहीं। यदि स्वयं ही पर्याय में भगवान् बनना हो तो निज भगवान् आत्मा की ही शरण में जाना होगा, उसका ही ध्यान धरना होगा, उसमें ही समा जाना होगा ह्व इस बात को कभी भूलना नहीं चाहिए।

इसप्रकार इन दो गाथाओं में भगवान् बनने की विधि बता दी गई है। ●

१. नाटक समयसार, निर्जराद्वार, छन्द २२-२३

सूक्ष्म माने दृष्टि से दूर, अन्तरित माने काल से दूर और दूरवर्ती माने क्षेत्र से दूर। परमाणु आदिक सूक्ष्म हैं, रामादिक काल से दूर होने से अन्तरित हैं और सुमेरु पर्वत आदि क्षेत्र से दूर होने से दूरवर्ती कहे जाते हैं। ये सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती सभी पदार्थ केवलज्ञान दर्पण में समानरूप से प्रतिभासित होते हैं। तात्पर्य यह है कि केवली भगवान् पदार्थों को देखने-जानने के लिए उनके पास नहीं जाते और पदार्थ भी उनके पास नहीं आते; तथापि सभी पदार्थ बिना यत्न के ही प्रतिसमय उनके ज्ञानदर्पण में झलकते रहते हैं।

भगवान् आत्मा

(४-५)

पिण्गंथो पीरागो पिस्सल्लो सयलदोसपिम्मको ।
 पिक्कामो पिक्कोहो पिम्माणो पिम्मदो अप्पा ॥
 पिण्डो पिण्डो पिम्ममो पिक्कलो पिरालंबो ।
 पीरागो पिण्डोसो पिम्मूढो पिण्भयो अप्पा ॥

(हरिगीत)

निर्ग्रन्थ है नीराग है निःशल्य है निर्दोष है ।
 निर्मान-मद यह आत्मा निष्काम है निष्क्रोध है ॥
 निर्दण्ड है निर्द्वन्द्व है यह निरालम्बी आत्मा ।
 निर्देह है निर्मूढ है निर्भयी निर्मम आत्मा ॥

भगवान् आत्मा परिग्रह से रहित है, राग से रहित है, माया, मिथ्यात्व और निदान शल्यों से रहित है, सर्व दोषों से मुक्त है, काम-क्रोध से रहित है और मद-मान से भी रहित है ।

भगवान् आत्मा हिंसादि पापों रूप दण्ड से रहित है, मानसिक द्वन्द्वों से रहित है, ममत्वपरिणाम से रहित है, शरीर से रहित है, आलम्बन से रहित है, राग से रहित है, दोषों से रहित है, मूढ़ता और भय से भी रहित है ।

ये गाथार्ये नियमसार नामक शास्त्र की ४३-४४वीं गाथार्ये हैं। इन गाथाओं में भगवान् आत्मा के शुद्ध स्वरूप को बताया गया है ।

इन गाथाओं का भाव स्पष्ट करते हुए नियमसार के टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में लिखते हैं ह

“१. शुद्धजीव, बाह्याभ्यन्तर चौबीस प्रकार के परिग्रहों के परित्यागस्वरूप (अभावस्वरूप) होने से निर्ग्रन्थ है ।

२. सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेषात्मक चेतन कर्मों (भावकर्मों) के अभाव से नीराग है ।

३. माया, मिथ्यात्व और निदान ह्व इन शल्यों के अभाव से निःशल्य है ।

४. शुद्धनिश्चयनय से शुद्धजीवास्तिकाय के द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म का अभाव होने से शुद्धजीव सर्वदोषविमुक्त है ।

५. शुद्धनिश्चयनय से उसे निजपरमतत्त्व की भी वांछा नहीं है; इसकारण वह शुद्ध जीव निष्काम है ।

६. निश्चयनय से प्रशस्त-अप्रशस्त समस्त परद्रव्यपरिणति के अभाव से निष्क्रोध है ।

७-८. सदा परमसमरसीभावस्वरूप होने से निर्मान और निःशेषरूप से (पूर्णतः) अन्तर्मुख होने से निर्मद है ।^१”

“९. मनदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड के योग्य द्रव्यकर्मों और भावकर्मों का अभाव होने से आत्मा निर्दण्ड है ।

१०. निश्चयरूप से आत्मा में परमपदार्थ के अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों का अभाव होने से आत्मा निर्द्वन्द्व है ।

११. प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होने से आत्मा निर्मम है ।

१२. निश्चय से औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण नामक पाँचों शरीरों का आत्मा में अभाव होने से आत्मा निक्कल (निःशरीर) अर्थात् शरीर रहित है ।

१३. निश्चय से परमात्मा को परद्रव्यों के अवलम्बन का अभाव होने से आत्मा निरालंब है ।

१४. आत्मा में मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा तथा स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ह्व इन चौदह अभ्यन्तर परिग्रहों का अभाव होने से आत्मा नीराग है ।

१. नियमसार अनुशीलन भाग-१, पृष्ठ २०१

१५. निश्चय से सम्पूर्ण पापमलकलंकरूपी कीचड़ को धो डालने में समर्थ सहज परमवीतराग सुखसमुद्र में निमग्न प्रगट सहज अवस्थारूप सहज ज्ञानशरीर के द्वारा पवित्र होने के कारण आत्मा निर्दोष है।

१६. सहज निश्चयनय के बल से सहज ज्ञान, सहज दर्शन, सहज चारित्र, सहज परमवीतरागसुख आदि अनेक परमधर्मों के आधारभूत निज परम-तत्त्व को जानने में समर्थ होने से आत्मा निर्मूढ है अथवा शुद्धसद्भूत-व्यवहारनय के बल से सादि-अनंत, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाववान तथा तीन काल और तीन लोक के स्थावर-जंगमस्वरूप समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को एक समय में जानने में समर्थ सम्पूर्णतः निर्मल केवलज्ञानरूप से अवस्थित होने से, केवलज्ञानस्वभावी होने से आत्मा निर्मूढ है।

१७. और समस्त पापरूपी शूरवीर शत्रुओं की सेना जिसमें प्रवेश नहीं कर सकती हूँ ऐसे निज शुद्ध अन्तःतत्त्वरूप महादुर्ग में निवास करने से आत्मा निर्भय है।^१”

इसप्रकार उक्त दोनों गाथाओं में कुल मिलाकर भगवान आत्मा के १७ विशेषण दिये गये हैं।

नीराग विशेषण दो बार आया है। दोनों गाथाओं में एक-एक बार। यद्यपि टीकाकार ने दोनों गाथाओं में अलग-अलग शब्दों में अर्थ किया है; तथापि दोनों का भाव लगभग एक ही है। इसप्रकार यदि उक्त दोनों को एक विशेषण ही मान लें, तो १६ विशेषण रह जाते हैं।

इसप्रकार यहाँ उक्त सोलह विशेषणों के माध्यम से भगवान आत्मा का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। यह वह भगवान आत्मा है, शुद्धात्मा है, निजात्मा है, प्रत्येक भव्य जीव का स्वयं का आत्मा है; जिसके दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन, जिसके सही ज्ञान का नाम सम्यग्ज्ञान और जिसमें लीन होने का नाम सम्यक्चारित्र है और मोक्षदशा में भी एकमात्र आराध्य है।

१. नियमसार अनुशीलन भाग-१, पृष्ठ १९०-१९१

इन गाथाओं का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं हूँ

“यहाँ जीव को शुद्धजीवास्तिकाय कहा है। असंख्यप्रदेशात्मक शुद्धजीव कहो, कारणपरमात्मा कहो, ध्रुवस्वभाव कहो हूँ सब एक ही हैं। जिस क्षेत्र में से अथवा जिसकी एकाग्रता से सम्यग्दर्शन पर्याय प्रकट होती है हूँ वह असंख्यप्रदेशी जीव है, उसमें परिग्रह नहीं है।

बाह्य-अभ्यन्तर चौबीस परिग्रह पहले अस्तित्व में थे और बाद में उन्हें त्यागा हूँ ऐसा यहाँ अर्थ नहीं है। परिग्रह का त्याग करना तो पर्याय में होता है। यहाँ पर्याय को गौण करके शुद्धजीव की बात चलती है।

धन, धान्य, दासी, दास, वस्त्रादि दश प्रकार के बाह्य परिग्रह शुद्ध आत्मा में नहीं हैं। राग-द्वेषवाली पर्याय में वे पदार्थ निमित्तरूप से होते हैं; किन्तु यहाँ तो शुद्धस्वभाव की बात है। शुद्धस्वभाव में बाह्य परिग्रह के निमित्तपने का अभाव है।

ऐसे परिग्रहरहित होने से शुद्धजीव निर्बन्ध हैं। यहाँ निर्बन्ध अर्थात् मुनिदशा हूँ ऐसा अर्थ नहीं है; किन्तु शुद्धजीव त्रिकाल निर्बन्धस्वरूप हैं हूँ उसकी बात है। इसी के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रकट होकर पर्याय में निर्बन्धता प्राप्त होती है और शरीर में निर्बन्धता हूँ नग्नदशा शरीर के कारण हो जाती है।

परमशुद्धतत्त्व को ग्रहण करूँ हूँ ऐसा राग स्वभाव में नहीं है, यह बात निष्काम के प्रकरण में आई थी और राग की वृत्ति को छोड़ूँ हूँ ऐसा द्वेष स्वभाव में नहीं है, यह बात निःक्रोध में आई है।

शुद्धस्वभाव निश्चयनय का विषय है और उसके आश्रय से विकार का अभाव होकर जो एकाग्रता प्रकट होती है, वह व्यवहारनय का विषय है।

अज्ञानी जीव चित्तनिरोध बाह्य से करना चाहते हैं; किन्तु बाह्यवस्तु से या शरीर की क्रिया से चित्त का निरोध नहीं होता है। मन तो जड़ है और उसके लक्ष से होने वाला राग विकार है हूँ इन दोनों का आत्मा में

अभाव है। आत्मस्वभाव राग-द्वेषरहित है; इसप्रकार उसकी अस्ति के बल से राग का अभाव होने पर चित्त का निरोध हो जाता है।

अपना शुद्धात्मा निश्चयनय का विषय है और उसके आश्रय से जो एकाग्रता की पर्याय प्रकट हुई, वह व्यवहारनय का विषय है।

इसप्रकार उक्त कथनानुसार विशुद्ध, सहजसिद्ध, नित्य, समस्त आवरणों से रहित अपना कारणशुद्धात्मा ही एकमात्र अंगीकार करने योग्य है। पुण्य-पाप आदरणीय नहीं, शुद्धस्वरूप एक ही उपादेय है।

इसप्रकार अपने शुद्ध परमात्मा का आश्रय करे तो धर्मरूपी कार्य प्रकट हो। इसलिये वह एक ही उपादेय है।^१

मन-वचन-काय के निमित्त से होनेवाला विकाररूप दण्ड त्रिकाली स्वभाव में नहीं है। राग-द्वेष का द्वैत शुद्धस्वभाव में नहीं है। शुद्धात्मा में ममता नहीं, शरीर नहीं, पर का अवलम्बन नहीं, राग नहीं, द्वेष नहीं, मूढ़ता नहीं, भय नहीं है। पर्याय में होनेवाले दोष शुद्धस्वभाव में नहीं हैं हूँ ऐसा कहकर यहाँ स्वभावदृष्टि कराने का प्रयोजन है।

आत्मा की एक समय की पर्याय में मन-वचन-काय के लक्ष से होनेवाले शुभाशुभ भाव दण्ड हैं और वे एक समय की अवस्थामात्र में हैं। भक्ति का भाव, उपवास का विकल्प, महाव्रत के परिणाम हूँ ये सभी दण्ड हैं। हिंसा, झूठ, चोरी के भाव अशुभ राग हैं और दया, दान, पूजा आदि के भाव शुभराग हैं; दोनों ही दण्ड हैं। उस दण्ड के योग्य द्रव्यकर्म और भावकर्म का एक समय की पर्याय में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

यदि इस कथन से कोई ऐसा समझ बैठे कि पर्याय में भी आत्मा निर्दण्ड है तो यह बात असत्य है। आत्मा पर्याय में भी निर्दण्ड हो तो फिर कुछ भी करने को नहीं रहा और ऐसी दशा में पर्याय में प्रकट आनन्द भी होना चाहिये; किन्तु ऐसा नहीं है।

१. नियमसार प्रवचन, भाग-१, पृष्ठ ४२१

यहाँ तो पर्यायबुद्धि छुड़ाने के लिये और स्वभावबुद्धि कराने के लिये दण्ड का शुद्धभाव में अभाव बताया है।

आत्मा शुद्ध चैतन्य एकरूप है, उसमें बाह्य अन्य चेतन और जड़ पदार्थों का तो अभाव है ही; साथ ही दया-दानादि विकल्पों का भी अभाव है। दूसरे जीव, अजीव पदार्थ, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्व भी शुद्ध ध्रुवस्वभाव में नहीं हैं।

कोई कहे कि आत्मा सर्वथा अद्वैत ही है और अन्य वस्तुयें हैं ही नहीं तथा पर्याय भी नहीं है तो यह बात सर्वथा खोटी है।

देव-शास्त्र-गुरु के प्रति लगन हो वह प्रशस्त मोह और राग है। भगवान के प्रति, सम्मदशिखरजी, गिरनारजी आदि तीर्थों के प्रति राग हो, वह प्रशस्त राग है और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के विरुद्ध कोई बोलता हो, उसके प्रति अल्प द्वेष हो जावे तो वह प्रशस्त द्वेष है। स्त्री, पुत्र, कुटुम्बादि के प्रति झुकाव होना अप्रशस्त मोह और राग है और जो अपने कुटुम्ब से विरुद्ध हो, उसके प्रति द्वेष होना वह अप्रशस्त द्वेष है।

मोह-राग-द्वेष एक समय की अवस्था में हैं, उनकी रुचि ही संसार है। उन जितना ही आत्मा को मानना जैनदर्शन नहीं है; किन्तु मोह-राग-द्वेष आत्मा में नहीं है, आत्मा शुद्ध चैतन्य निर्मम है हूँ ऐसे शुद्ध चैतन्य का अवलम्बन लेना धर्म है और वही जैनदर्शन है।

आत्मा को देव-शास्त्र-गुरु का अवलम्बन तो नहीं, परन्तु दया-दानादि भावों का भी अवलम्बन नहीं है। आत्मा को अपने शुद्धस्वभाव का अवलम्बन है, किन्तु पर का अवलम्बन नहीं है; इसलिये वह निरालम्ब है।

व्यवहारशास्त्रों में कदाचित् ऐसा कथन आवे कि सम्यग्दृष्टि को शुभभाव का तथा भगवान का अवलम्बन है, वहाँ ऐसा समझना चाहिये कि वह कथन निमित्त का ज्ञान कराने के लिये है।

परपदार्थों का तो आत्मा में सदा ही अभाव है और पर्याय में होनेवाले संयोगी भावों का भी शुद्ध आत्मा में अभाव है हूँ ऐसी श्रद्धा-

ज्ञान होने पर पर्याय में भी संसार के अभाव का परिणमन होता जाता है और शुद्धदशा की प्राप्ति होती है।

चौदह परिग्रह से रहित आत्मा नीराग है हू ऐसी दृष्टि धर्म का कारण है।

आत्मा में अनेक धर्म हैं हू उनमें सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र, सहजपरमवीतराग सुख आदि हैं। वीर्य आदि गुण उसमें आ जाते हैं। निश्चयनय से उन अनन्त धर्मों का आधार निजपरमतत्त्व हैं। धर्म तो अनेक हैं, किन्तु धर्मों एक हैं।

यहाँ आत्मा का अर्थ है हू त्रिकाली शुद्धभाव। त्रिकाली शुद्धभाव अनन्त गुणों के अभेद निजपरमतत्त्व को जानने में समर्थ है अर्थात् जानने के स्वभाववाला है; इसलिये आत्मा मूढतारहित है। यहाँ वर्तमान पर्याय की बात नहीं है, त्रिकाल चैतन्यस्वभाव की बात है।

यहाँ पाप का अर्थ विकार समझना, इसमें शुभ-अशुभ दोनों भाव आ जाते हैं। शुभाशुभ भावों के असंख्य भेद हैं, वे सभी आत्मा की शुद्धता को रोकते हैं; अतः शत्रु हैं।

जहाँ तक आत्मा की निर्बलता शेष है, वहाँ तक विकार का जोर है; परन्तु शुद्ध अन्तःतत्त्वरूपी ऐसा दुर्ग है कि जिसमें विकार की शूवीर सेना प्रवेश नहीं कर सकती।

यहाँ अन्तःतत्त्व का अर्थ अन्तरात्मा मत समझना; क्योंकि वह तो नवीन प्रगटती निर्मल पर्याय है। यहाँ अन्तःतत्त्व अर्थात् अनादि-अनन्त एकरूप रहता हुआ शुद्ध भाववाला कारणपरमात्मा है, जिसके द्रव्य-गुण-पर्याय एकरूप शुद्ध हैं।

इसप्रकार अन्तःतत्त्वरूप दुर्ग में बसता होने से आत्मा निर्भय है।

इन बोलों द्वारा लक्षित आत्मा का लक्ष करने से धर्मदशा प्रगट होगी।

हू ऐसा यह आत्मा ही वस्तुतः उपादेय है।^१”

१. नियमसार प्रवचन, भाग-१, पृष्ठ ३८९

उक्त गाथा में परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत परमपारिणामिकभाव रूप भगवान आत्मा के निर्ग्रन्थादि जो भी विशेषण दिये गये हैं; वे सभी द्रव्यस्वभाव के हैं, पर्याय के नहीं।

तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व और क्रोधादि अंतरंग परिग्रह वर्तमान पर्याय में होने पर भी द्रव्यस्वभाव में नहीं है। उक्त द्रव्यस्वभाव में अपनापन स्थापित होने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल पर्याय प्रगट होती है और मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप विकारी पर्यायों का पर्याय में भी अभाव हो जाता है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि परमशुद्धनिश्चयनय अथवा परमभावग्राही शुद्धद्रव्यार्थिकनय के विषयभूत परमपारिणामिकभावरूप त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में मन-वचन-कायरूप दण्ड नहीं है।

परपदार्थों और परभावों का अभाव होने से किसी भी प्रकार का द्वन्द नहीं है; औदारिकादि पाँच शरीर नहीं हैं; परद्रव्यों का आलम्बन नहीं है; चौदह प्रकार के अंतरंग परिग्रह नहीं हैं; किसी भी प्रकार का कोई दोष नहीं है; किसी भी प्रकार की मूढता और भय नहीं है।

अतः वह निर्दण्ड है, निर्द्वन्द्व है, निर्मम है, अदेह है, निरालम्बी है, नीराग है, निर्दोष है, निर्मूढ है और निर्भय है।

ऐसा भगवान आत्मा ही उपादेय है। तात्पर्य यह है कि ऐसा निज भगवान आत्मा ही अपनापन स्थापित करने योग्य है और इसी में समा जाना साक्षात् धर्म है। ●

केवलज्ञान माने सर्वज्ञता, सम्पूर्ण ज्ञान, परिपूर्ण ज्ञान। सम्पूर्ण जगत में, लोकालोक में जितने भी पदार्थ हैं, उन सभी को उनके सम्पूर्ण गुण और भूत, भविष्य एवं वर्तमान की समस्त पर्यायों सहित एक समय में बिना किसी की सहायता के, इन्द्रियों के बिना, सीधे आत्मा से प्रत्यक्ष जानना ही केवलज्ञान है।

हू पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-६४

कैसा हूँ मैं ?

(६)

अहमेवको खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी ।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेतं पि ॥

(हरिगीत)

मैं एक दर्शन ज्ञान मय नित शुद्ध हूँ रूपी नहीं ।
ये अन्य सब परद्रव्य किंचित् मात्र भी मेरे नहीं हैं ।

मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ एवं सदा ही ज्ञान-दर्शनमय अरूपी तत्त्व हूँ ।
मुझसे भिन्न अन्य समस्त द्रव्य परमाणु मात्र भी मेरे नहीं हैं ।

तात्पर्य यह है कि मैं समस्त परद्रव्यों से भिन्न, ज्ञान-दर्शनस्वरूपी,
अरूपी, एक, परमशुद्ध तत्त्व हूँ । अन्य परद्रव्यों से मेरा कोई सम्बन्ध
नहीं है ।

इस गाथा में यह बताया गया है कि ज्ञानी धर्मात्मा स्वयं के बारे में
क्या सोचते हैं । उन्हें अपने स्वरूप का संचेतन कैसा होता है ?

समयसार की इस ३८वीं गाथा की टीका करते हुए आचार्य
अमृतचन्द्र लिखते हैं ह

“जिसप्रकार कोई पुरुष अपनी मुट्ठी में रखे हुए सोने को भूल
गया हो, पर किसी के ध्यान दिलाने पर या स्वयं को ही स्मरण आ जाने
पर उसे देखे और आनन्दित हो; उसीप्रकार (उसी न्याय से) अनादि
मोहरूप अज्ञान से उन्मत्तता के कारण जो आत्मा अत्यन्त अप्रतिबुद्ध
था, अपने परमेश्वर आत्मा को भूल गया था; विरक्त गुरु के द्वारा
निरन्तर समझाये जाने पर, किसीप्रकार समझकर, सावधान होकर;
अपने आत्मा को जानकर, उसका श्रद्धान कर और उसका आचरण
करके, उसमें तन्मय होकर, जो सम्यक्प्रकार एक आत्माराम हुआ,
दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणामित हुआ; अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त

हुआ; वह ऐसा अनुभव करता है कि हूँ मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा
हूँ और मेरे अनुभव से ही मैं प्रत्यक्ष ज्ञात होता हूँ ।

मैं एक हूँ; क्योंकि चिन्मात्र आकार के कारण समस्त क्रमरूप और
अक्रमरूप से प्रवर्तमान व्यवहारिक भावों से भेदरूप नहीं होता ।

मैं शुद्ध हूँ; क्योंकि नर, नारकादि जीव के विशेष और अजीव,
पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध तथा मोक्षस्वरूप व्यवहारिक
नवतत्त्वों से टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावरूप भाव के द्वारा अत्यन्त
भिन्न हूँ ।

मैं दर्शन-ज्ञानमय हूँ; क्योंकि चिन्मात्र होने से सामान्य-विशेष
उपयोगात्मकता का उल्लंघन नहीं करता ।

मैं परमार्थ से सदा ही अरूपी हूँ; क्योंकि स्पर्श, रस, गंध और वर्ण
जिसके निमित्त हैं हूँ ऐसे संवेदनरूप परिणामित होने पर भी स्पर्शादिरूप
स्वयं परिणामित नहीं होता ।

हूँ इसप्रकार सबसे भिन्न निज स्वरूप का अनुभव करता हुआ मैं
प्रतापवन्त हूँ ।

इसप्रकार प्रतापवन्त वर्तते हुए मुझमें मेरी विचित्र स्वरूपसम्पदा के
द्वारा यद्यपि बाह्य समस्त परद्रव्य स्फुरायमान हैं; तथापि मुझे कोई भी
परद्रव्य परमाणुमात्र भी मुझरूप भासते नहीं कि जो भावरूप और
ज्ञेयरूप से मेरे साथ होकर मुझमें पुनः मोह उत्पन्न करें; क्योंकि निजरस
से ही मोह को पुनः अंकुरित न हो हूँ इसप्रकार मूल से ही उखाड़ कर,
नाश करके; महान ज्ञानप्रकाश मुझे प्रगट हुआ है ।”

देखो, आचार्यदेव कितने विश्वास से कह रहे हैं कि हूँ

अनन्त बाह्य पदार्थ मेरे ज्ञान में झलकते हैं तो इसमें क्या है ? यह
तो मेरी विचित्र स्वरूपसम्पदा है, इससे मुझे कोई भय नहीं है, इससे
मुझे इन्कार भी नहीं; क्योंकि यह तो मेरे स्वभाव की ही विचित्रता है;
इसमें कुछ भी ऐसा नहीं, जो मेरे लिए अहितकारी हो ।

मेरी स्वरूप सम्पदा में झलकनेवाले परपदार्थ मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ते ।

हाँ, जब मैं उनमें अपनापन करता हूँ, उन्हें अपना जानता हूँ; तभी मोह उत्पन्न होता है; परन्तु मुझे तो ज्ञानप्रकाश प्रगट हो गया है; अतः मुझमें झलकते हुए भी वे पदार्थ मुझे मुझरूप भासित नहीं होते । अतः मुझमें मोह भी उत्पन्न नहीं करते ।

परपदार्थों को जानने मात्र से उनसे मोह उत्पन्न नहीं होता, मोह तो उन्हें अपना जानने से; उन्हें अपना मानने से, उनमें जमने-रमने से उत्पन्न होता है । किन्तु मैंने पर में, ज्ञेयभावों में, भावकभावों में अपनेपन की मान्यता को निजरस के बल से जड़मूल से उखाड़ फेंका है और महान ज्ञानप्रकाश प्रगट किया है । अतः इस ज्ञानप्रकाश के रहते मुझे मोह के पुनः उत्पन्न होने की कोई आशंका नहीं है । इसप्रकार मैं सबसे भिन्न निज स्वरूप का अनुभव करता हुआ प्रतापवन्त हूँ ।

मुट्ठी में रखे हुए सोने को भूल जाने और कारण पाकर स्मरण आने पर प्राप्त करने का उदाहरण देकर आचार्यदेव यह समझाना चाहते हैं कि सोना है तो अपने पास ही, अपनी मुट्ठी में ही; उसे प्राप्त करने के लिए कहीं जाना नहीं है, बस मुट्ठी खोलकर देखना ही है, उसे प्राप्त करने में मुट्ठी खोलकर देखने भर की देर है । इसीप्रकार आत्मा भी है तो अपने पास ही, पास ही क्या हम स्वयं आत्मा ही तो हैं; अतः उसे जानने के लिए, खोजने के लिए कहीं जाना नहीं है; बस परपदार्थों पर से दृष्टि हटाकर निज को निहारना ही है ।

विरक्त गुरु के द्वारा निरन्तर समझाये जाने का आशय यह नहीं है कि गुरु शिष्यों को निरन्तर समझाते ही रहेंगे; क्योंकि उन्हें अपना काम भी करना है, अपने आत्मा का ध्यान भी करना है; वे निठल्ले नहीं हैं जो निरन्तर समझाते ही रहेंगे । उन्होंने एक बार, दो बार, तीन-चार बार अच्छी तरह समझा दिया और शिष्य के हृदय में बात बैठ गई, समझ में

आ गई और आत्मा को प्राप्त करने की लगन लग गई तो फिर शिष्य उसी बात का निरन्तर घोलन करते हैं, चिन्तन-मनन करते हैं, परस्पर चर्चा-वार्ता करते हैं; उससे उनके ज्ञान में निर्मलता बढ़ती है, उनका ज्ञान आत्मसम्मुख होता है और उन्हें आत्मोपलब्धि हो जाती है ।

इसी का नाम गुरु के द्वारा निरन्तर समझाया जाना है । गुरु के समझाने की बात तो है ही, पर उससे भी आवश्यक उनकी बताई बात को धारणा में लेने की है, चिन्तन-मनन करने की है, मंथन करके निर्णय पर पहुँचने की है, शिष्यों के अभीक्षण ज्ञानोपयोग की है, अन्तरलगनी की है । गुरु तो निमित्तमात्र हैं, कार्य तो अन्तर के पुरुषार्थ से होता है ।

इसप्रकार रत्नत्रयरूप परिणत ज्ञानी आत्मा सोचता है कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, सदा ही अरूपी हूँ और परपदार्थ किञ्चित्मात्र भी मेरे नहीं हैं । मैं तो चैतन्यज्योतिरूप आत्मा हूँ और आत्मानुभव से ही प्रत्यक्ष ज्ञात होता हूँ ।

चौदह गुणस्थानों में से आत्मा के एक समय में एक ही गुणस्थान होता है; अतः वे आत्मा के क्रमिक भाव हैं । परन्तु चौदह मार्गणायें प्रत्येक जीव में एकसाथ ही होती हैं; अतः वे जीव के अक्रमिक भाव हैं । क्रमिक और अक्रमिक हूँ इन दोनों भावों से भिन्न होने से भगवान आत्मा एक है । तात्पर्य यह है कि निश्चयनय का विषयभूत चिन्मात्र आत्मा गुणस्थानरूप क्रमिक भावों से और मार्गणास्थानरूप अक्रमिक भावों से भेदा नहीं जाता, भेद को प्राप्त नहीं होता; अतः वह एक है ।

तात्पर्य यह है कि दृष्टि का विषयभूत भगवान आत्मा गुणस्थानातीत है, मार्गणास्थानातीत है ।

शुद्ध शब्द का अर्थ करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र शुद्धता का कारण व्यावहारिक नव तत्त्वों से भिन्नता को बताते हैं । उनके अनुसार नव तत्त्वों में छुपी हुई आत्मज्योति नव तत्त्वों से भिन्न है; इसलिए शुद्ध

है। उसका नव तत्त्वरूप होना ही अशुद्धता है और नव तत्त्वों से भिन्नता ही शुद्धता है।

आचार्य जयसेन नव तत्त्वों से भिन्नता को शुद्धता स्वीकार करते हुए भी अथवा के रूप में रागादिभाव से भिन्नता की बात भी करते हैं।

इसप्रकार एकता में गुणस्थान और मार्गणास्थानों से भिन्नता और शुद्धता में नव तत्त्वों से भिन्नता की बात आ गई।

‘अरूपी’ विशेषण के साथ ‘सदा’ शब्द भी लगा है; जिसका आशय है कि आत्मा सदा ही अरूपी है। इस ‘सदा’ शब्द को अन्तदीपक मानकर सभी विशेषणों के साथ भी लगाया जा सकता है; जो इसप्रकार होगा **हूँ मैं (भगवान आत्मा) सदा ही एक हूँ, सदा ही शुद्ध हूँ, सदा ही ज्ञान-दर्शनमय हूँ और सदा ही अरूपी हूँ।**

इस अरूपी विशेषण में विशेष जानने की बात यह है कि आत्मा रूप, रस, गंध एवं स्पर्श को जानता है, उनके जाननेरूप परिणमित होता है; परन्तु उनरूप परिणमित नहीं होता; हूँ इसकारण अरूपी है।

ध्यान रहे हूँ इसमें रूपादि को जानने का निषेध नहीं किया, अपितु उन्हें जानने की तो स्थापना की है; निषेध तो उनरूप परिणमित होने का किया है।

इसप्रकार ज्ञानी विचारता है कि मैं क्रम और अक्रमरूप से प्रवर्तमान व्यवहारिक भावों से भेदरूप नहीं होता, इसलिए एक हूँ; व्यावहारिक नव तत्त्वों से भिन्न हूँ, इसलिए शुद्ध हूँ; सामान्य-विशेष उपयोगात्मक होने से ज्ञान-दर्शनमय हूँ और स्पर्शादिक को जानते हुए भी उनरूप परिणमित नहीं होता; इसलिए अरूपी हूँ तथा कोई भी परपदार्थ किंचित्मात्र भी मेरे नहीं हैं।

इसप्रकार सभी परपदार्थों से भिन्न निजस्वरूप का अनुभव करता हुआ मैं प्रतापवन्त वर्तता हूँ। ●

और कैसा हूँ मैं ?

(७)

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेतनागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिदिट्ठसंठाणं ॥

(हरिगीत)

चैतन्य गुणमय आत्मा अव्यक्त अरस अरूप है।

जानो अलिंगग्रहण इसे यह अनिर्दिष्ट अशब्द है ॥

हे भव्य ! तुम जीव को अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, अशब्द, अनिर्दिष्टसंस्थान, अलिंगग्रहण और चेतनागुणवाला जानो।

भगवान आत्मा में न रस है, न रूप है, न गंध है और न शब्द हैं; अतः यह आत्मा अव्यक्त है, इन्द्रियग्राह्य नहीं है। हे भव्यो ! किसी भी लिंग (चिह्न) से ग्रहण न होने वाले, चेतना गुण वाले एवं अनिर्दिष्ट (न कहे जा सकने वाले) संस्थान (आकार) वाले इस भगवान आत्मा को जानो।

यह गाथा आचार्य कुन्दकुन्द कृत पंचपरमागमों में पाई जाती है।

प्रवचनसार में १७२वीं, नियमसार में ४६वीं, पंचास्तिकाय में १२७वीं, अष्टपाहुड के भावपाहुड में ६४वीं गाथा है और समयसार में यह ४९वीं गाथा है।

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी यह गाथा पाई जाती है। धवल के तीसरे भाग में यह गाथा है और पद्मनन्दी पंचविंशतिका एवं द्रव्यसंग्रहादि में यह गाथा उद्धृत की गई है।

इसप्रकार आत्मा का स्वरूप प्रतिपादन करनेवाली यह गाथा जिनागम की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लोकप्रिय गाथा है।

इस गाथा में अरस, अरूप आदि आठ विशेषणों के माध्यम से दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा का स्वरूप समझाया गया है।

रस, रूप, गंध और स्पर्श हूँ ये चार पुद्गल के गुण हैं और शब्द पुद्गल की पर्याय है। ये पाँचों पाँच इन्द्रियों के विषय हैं। यहाँ इन पाँचों के निषेधरूप पाँच विशेषण आरंभ में ही लिए गये हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि परमार्थ जीव इन्द्रियों का विषय नहीं है; अतः इन्द्रियों के माध्यम से नहीं जाना जा सकता।

यह असंख्यातप्रदेशी भगवान् आत्मा संसारावस्था में जिस शरीर में रहता है, उसी के आकार में परिणमित हो जाता है। आत्मा का कोई आकार तो सुनिश्चित है नहीं, इसकारण उसके आकार के बारे में यही कहा गया है कि वह निश्चय से असंख्यातप्रदेशी है और व्यवहार से स्वदेहप्रमाण है।

अतः निश्चय से उसके आकार के बारे में कुछ भी कहना संभव नहीं है; यही कारण है कि उसे यहाँ अनिर्दिष्टसंस्थान कहा गया है।

पुद्गल के चार गुणों में रस, रूप और गंध हूँ ये तीन गुणों के अभावरूप अरस, अरूप, अगंध विशेषण तो मूल गाथा में है; पर पुद्गल के स्पर्श गुण का निषेध करनेवाला अस्पर्श विशेषण मूल गाथा में नहीं है।

इसलिए प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में तो आचार्य अमृतचन्द्र ने अव्यक्त विशेषण का ही अर्थ अस्पर्श किया है और वे आचार्य अमृतचन्द्र ही यहाँ अव्यक्त के उससे भिन्न चार अर्थ करते हैं तथा अस्पर्श विशेषण को गाथा में छन्दानुरोधवश अनुक्त मानकर वैसे ही ऊपर से ले लेते हैं और अरस, अरूप, अगंध के समान उसके भी छह अर्थ करते हैं।

जीव में रस, रूप, गंध, स्पर्श, शब्द, संस्थान और व्यक्तता का अभाव होने पर भी वह स्वसंवेदन ज्ञान के बल से स्वयं सदा प्रत्यक्ष होने से अकेले अनुमान से ही नहीं जाना जाता; स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से भी जाना जाता है; अतः जीव अलिंगग्रहण है।

प्रवचनसार में तो अलिंगग्रहण के बीस अर्थ किये हैं; पर यहाँ तो मात्र यही कहा है कि वह स्वसंवेदन ज्ञान के बल से प्रत्यक्षानुभूति का विषय बनता है; अतः उसे अकेले अनुमान का विषय नहीं माना जा सकता है; अतः अलिंगग्रहण है।

यहाँ अलिंगग्रहण का अर्थ शब्दार्थ के रूप में ऐसा समझना कि लिंग माने अनुमान, ग्रहण माने जानना और अ माने नहीं। तात्पर्य ऐसा है कि भगवान् आत्मा प्रत्यक्षानुभूति का विषय होने से अकेले अनुमान से ही नहीं जाना जाता; अतः अलिंगग्रहण है।

अरस, अरूप, अगंध, अस्पर्श, अशब्द, अव्यक्त, अनिर्दिष्टसंस्थान और अलिंगग्रहण हूँ ये आठ विशेषण तो निषेधपरक हैं; परन्तु चेतनागुण वाला हूँ यह नौवाँ विशेषण विधिपरक है।

टीका के अन्त में कहा गया है कि इन अरसादि नौ विशेषणों से युक्त, चैतन्यस्वरूप, निर्मल प्रकाशवाला, एक भगवान् आत्मा ही परमार्थ स्वरूप जीव है, जो इस लोक में पर से भिन्न ज्योतिस्वरूप टंकोत्कीर्ण विराजमान है।

इसप्रकार यहाँ उस भगवान् आत्मा का स्वरूप स्पष्ट किया गया है कि जो मैं स्वयं हूँ, जिसके साक्षात् दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन है; जिसमें अपनापन करने का नाम, एकत्व स्थापित करने का नाम सम्यग्दर्शन है।

पुद्गल से भिन्न होने के कारण अरस, अरूप, अगंध, अस्पर्श है और पुद्गल की शब्दरूप पर्याय से भिन्न होने के कारण अशब्द है। इसलिए यह भगवान् आत्मा; रूप, रसादि विषयों के ग्रहण में निमित्तभूत इन्द्रियों के माध्यम से भी देखने-जानने में नहीं आता।

यह असंख्यातप्रदेशी आत्मा जिस शरीर में जाता है; उसी आकार का हो जाता है; इसप्रकार इस अव्यक्त आत्मा के आकार को बताया जाना भी संभव नहीं है।

इसीप्रकार उसके आकार को बताया जाना संभव न होने से वह अनिर्दिष्टसंस्थान है।

हाँ, यह अनुमान से जाना जाता है, पर अकेले अनुमान से ही नहीं जाना जाता; अनुभव से भी प्रत्यक्ष ज्ञात होता है; अतः इसे लिंग ग्रहण भी नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि इसे अलिंगग्रहण कहते हैं।

उक्त आठ विशेषणों से तो यह बताया है कि यह आत्मा कैसा नहीं है; अब इस चेतनागुणवाला ह्य विशेषण से यह बताते हैं कि यह भगवान आत्मा चेतनागुणवाला है।

यह भगवान आत्मा लक्ष्य है और चेतनागुण उसका लक्षण है। यह चेतनागुणवाला लक्षण सर्वथा निर्दोष लक्षण है, क्योंकि उसमें न अव्याप्ति, न अतिव्याप्ति और न असंभव दोष है।

आचार्य कुन्दकुन्द कृत समयसार की आत्मख्याति टीका में इस गाथा का अर्थ करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र अरस, अरूप, अगंध, अस्पर्श, अशब्द और अव्यक्त पदों के छह-छह अर्थ करते हैं और अनिर्दिष्ट-संस्थान पद के चार अर्थ करते हैं; किन्तु उन्होंने अलिंगग्रहण पद का अर्थ सामान्य सा करके ही छोड़ दिया है।

प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में अलिंगग्रहण पद पर जोर दिया है, उसके २० अर्थ किये हैं।

समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय ह्य इन तीनों ग्रंथों पर आचार्य अमृतचन्द्र ने संस्कृत भाषा में जो टीकायें लिखीं, उनमें से किसी भी टीका में इस गाथा का अर्थ करते समय चेतनागुण के संबंध में विशेष विस्तार नहीं किया है; किन्तु नियमसार में इस गाथा का अर्थ करते समय मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव का ध्यान इसी पद पर केन्द्रित हैं, शेष पदों पर विशेष प्रकाश नहीं डाला। इसके पूर्व की गाथा के अर्थ में ही इस गाथा के अरसादि विशेषणों को समाहित कर लिया है;

क्योंकि उक्त गाथा में भी तो यही कहा है कि आत्मा में रूप, रस, गंध और स्पर्श नहीं है और इसमें भी यही कहा जा रहा है कि आत्मा अरस, अरूप, अगंध और अस्पर्श है। इसीप्रकार अन्य विशेषणों के बारे में भी विचार कर लेना चाहिए। चेतनागुण विशेषण के संदर्भ में यहाँ चेतना के भेद कर्मचेतना, कर्मफलचेतना और ज्ञानचेतना की चर्चा विस्तार से की है।

कहा गया है कि स्थावर जीवों के कर्मफलचेतना की प्रधानता है; क्योंकि सहज पुण्य-पाप के योग से उन्हें जो भी संयोग प्राप्त होते हैं, संयोगी भाव अर्थात् मोह-राग-द्वेषभाव होते हैं; वे तो उन्हें ही भोगते रहते हैं, उनका ही वेदन करते रहते हैं।

त्रस जीवों के कर्मचेतना सहित कर्मफलचेतना की प्रधानता होती है; क्योंकि पर में एकत्व-ममत्व होने से वे उनमें कुछ न कुछ करने और उन्हें भोगने के भावों में उलझे रहते हैं।

टीका में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखा गया है कि कारणपरमात्मा और कार्यपरमात्मा को शुद्धज्ञानचेतना होती है। यह तो स्पष्ट ही है कि कारणपरमात्मा तो उस त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा को कहते हैं कि जो निगोद से लेकर मोक्ष तक के सभी जीवों के सदा विद्यमान है।

यही कारण है कि वह शुद्धज्ञानचेतना सभी जीवों में विद्यमान है और सभी को परम उपादेय है; क्योंकि उसके आश्रय से ही यह संसारी आत्मा सिद्ध बनता है।

उक्त कारणपरमात्मा के आश्रय से जो अरहंत-सिद्धरूप परमात्म दशा प्रगट होती है; उसे कार्यपरमात्मा कहते हैं। इसप्रकार हम देखते हैं कि यहाँ कर्मचेतना और कर्मफलचेतना की मुख्यतावाले अज्ञानी जीवों और शुद्धज्ञानचेतनावाले अरहंत-सिद्धरूप पूर्ण ज्ञानियों की चर्चा तो की; किन्तु साधकदशा में विद्यमान जीवों की बात नहीं की।

समयसार और प्रवचनसार ग्रंथों की संस्कृत टीका में आचार्य

अमृतचन्द्र ने इस गाथा की टीकायें विस्तार और गहराई से की हैं। मैंने भी उनके अनुशीलन में भगवान आत्मा का स्वरूप यथासाध्य स्पष्ट करने का प्रयास किया है। जिन्हें इस गाथा का भाव गहराई से समझना हो, वे उक्त अनुशीलन का अध्ययन करें।

अन्य ग्रन्थों में प्राप्त तत्संबंधी सामग्री का भी अध्ययन किया जाना चाहिए।

सामान्य अर्थ तो यहाँ स्पष्ट कर ही दिया गया है।

यद्यपि उक्त अनुशीलन में थोड़ी-बहुत पुनरावृत्ति हुई है; तथापि जटिल विषय के सरलीकरण के व्यामोह में यह सबकुछ अनिवार्य लगा।

मुनिराजों का आहार अल्पाहार ही होता है। वे तो मात्र जीने के लिए शुद्ध-सात्विक अल्प आहार लेते हैं। वे आहार के लिए नहीं जीते, जीने के लिए आहार लेते हैं। भरपेट आहार कर लेने पर पानी भी पूरा नहीं पिया जायेगा और बाद में प्यास लगेगी। वे तो भोजन के समय ही पानी लेते हैं, बाद में तो पानी भी नहीं पीते। पानी की कमी के कारण भोजन भी ठीक से नहीं पचेगा और कब्ज आदि अनेक रोग आ घेरेंगे। ऐसी स्थिति में आत्म साधना में भी बाधा पड़ेगी। अतः वे अल्पाहार ही लेते हैं।

हाथ में आहार लेने के पीछे भी रहस्य है। यदि थाली में आहार लेवें तो फिर बैठकर ही लेना होगा, खड़े-खड़े आहार थाली में संभव नहीं है। दूसरे थाली में उनकी इच्छा के विरुद्ध भी अधिक या अनपेक्षित सामग्री रखी जा सकती है। जूठा छोड़ना उचित न होने से खाने में अधिक आ सकता है। हाथ में यह संभव नहीं है। यदि किसी ने कदाचित् रख भी दिया तो कितना रखेगा? बस, एक ग्रास ही न? पर थाली में तो चाहे जितना रखा जा सकता है। भोजन में जो स्वाधीनता हाथ में खाने में है, वह स्वाधीनता थाली में खाने में नहीं रहती।

हू पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-६०

प्रज्ञाछैनी

विगत गाथा में आत्मा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसे जानने की प्रेरणा दी, आत्मा को ग्रहण करने की प्रेरणा दी है, अतः अब प्रश्न उपस्थित करते हैं कि आत्मा को किसप्रकार ग्रहण करें? आखिर आत्मा को ग्रहण करने की विधि क्या है?

(८)

कह सो धिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु धिप्पदे अप्पा।
जह पण्णाए विभत्तो तह पण्णा एव घेतत्वो ॥

(हरिगीत)

जिस भाँति प्रज्ञाछैनी से पर से विभक्त किया इसे।

उस भाँति प्रज्ञाछैनी से ही अरे ग्रहण करो इसे ॥

प्रश्न हू भगवान आत्मा को किस प्रकार ग्रहण किया जाय?

उत्तर हू भगवान आत्मा का ग्रहण बुद्धिरूपी छैनी से किया जाना चाहिए। जिसप्रकार बुद्धिरूपी छैनी से भगवान आत्मा को परपदार्थों से भिन्न किया है; उसीप्रकार बुद्धिरूपी छैनी से ही भगवान आत्मा को ग्रहण करना चाहिए।

यह समयसार परमागम के मोक्षाधिकार की गाथा है। इसका नम्बर २९६ है। इसमें भगवान आत्मा को बंध से विभक्त कर ग्रहण करने की विधि बताई गई है। इसमें आत्मा को ग्रहण करने का साधन एकमात्र भगवती प्रज्ञा को बताया गया है।

ध्यान रहे, आत्मा को बन्ध से भिन्न जानने और ग्रहण करने का सम्पूर्ण कार्य अपनी स्वयं की बुद्धि-विवेक से ही होता है; इसमें अन्य किसी पर के सहयोग या किसी क्रियाकाण्ड की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न हू विभक्त करने और ग्रहण करने में मूलभूत अन्तर क्या है?

उत्तर हू अपना भगवान आत्मा और परपदार्थ, भिन्न-भिन्न तो

स्वभावतः ही हैं। इसकारण इन्हें पृथक्-पृथक् करना नहीं है, अपितु पृथक्-पृथक् जानना ही है। इसप्रकार पृथक्-पृथक् जानना और पृथक्-पृथक् करने का भाव एक ही है।

स्वयं को ग्रहण करने का आशय यही है कि स्वयं को जाने, निजरूप जाने, निजरूप माने और स्वयं में ही समाहित रहे, जमा-रमा रहे। स्वयं के जानने, माननेरूप परिणामित होने का नाम ही ग्रहण करना है।

इसप्रकार विभक्त करना और ग्रहण करना ह्व इन दोनों प्रक्रियाओं का साधन एकमात्र प्रज्ञाछैनी ही है।

मुक्ति प्राप्त करने के लिए समाधिस्थ होने के साधन (करण) की मीमांसा हो रही है। इस मीमांसा में निष्कर्षरूप से यह कहा गया है कि मुक्ति की प्राप्ति का एकमात्र साधन तो प्रज्ञाछैनी ही है; इसलिए अन्य साधनों की खोज में भटकना ठीक नहीं है।

उक्त संदर्भ में आचार्य अमृतचन्द्र का निम्नांकित कलश उल्लेखनीय है ह्व

(स्रग्धरा)

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः
सूक्ष्मेऽन्तःसंधिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्म्मोभयस्य।
आत्मानं मग्नमंतःस्थिरविशदलसद्भाम्नि चैतन्यपूरे
बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥१८१॥

(हरिगीत)

सूक्ष्म अन्तःसंधि में अति तीक्ष्ण प्रज्ञाछैनि को।
अति निपुणता से डालकर अति निपुणजन ने बंध को ॥
अति भिन्न करके आत्मा से आत्मा में जम गये।
वे ही विवेकी धन्य हैं जो भवजलधि से तर गये ॥१८१॥

अपने आत्मा को अपने अंतरंग तेज में स्थिर करती हुई तथा निर्मल और दैदीप्यमान चैतन्य प्रवाह में मग्न करती हुई एवं बंध को अज्ञानभाव

में डालती हुई ह्व इसप्रकार आत्मा और बंध को भिन्न करती हुई, यह प्रज्ञाछैनी प्रवीण पुरुषों द्वारा किसी भी प्रकार प्रयत्नपूर्वक सावधानी से डालने पर आत्मा और कर्मबंध के बीच की सूक्ष्म अन्तःसंधि में अति शीघ्रता से पड़ती है।

तात्पर्य यह है कि यह प्रज्ञाछैनी आत्मा और बंध को छेद देती है, भिन्न-भिन्न कर देती है और उपयोग के अन्तर्मुख होने से आत्मा का अनुभव हो जाता है।

कविवर पण्डित बनारसीदासजी उक्त भाव को एक दोहे में इसप्रकार सोदाहरण स्पष्ट करते हैं ह्व

(दोहा)

जैसे छैनी लोह की, करै एक सौं दोई।
जड़ चेतन की भिन्नता, त्यों सुबुद्धि सौं होई ॥

जिसप्रकार लोहे की छैनी एक के दो कर देती है; उसीप्रकार सुबुद्धि से जड़ और चेतन की भिन्नता हो जाती है।

पण्डित दौलतरामजी छहढाला में लिखते हैं ह्व

जिन परम पैनी सुबुद्धि छैनी, डारि अन्तर भेदिया।
वरणादि अरु रागादि तैं, निज भाव को न्यारा किय्या ॥
निज माहिं निज के हेतु, निज कर आपको आपै गह्यौ।
गुण-गुणी ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, मँझार कछु भेद न रह्यौ ॥
जहँ ध्यान-ध्याता-ध्येय को, न विकल्प वच-भेद न जहाँ।
चिद्भाव कर्म चिदेश कर्ता, चेतना किरिया तहाँ ॥
तीनों अभिन्न अखिन्न शुध, उपयोग की निश्चल दसा।
प्रगटी जहाँ दृग-ज्ञान-व्रत, ये तीनधा एकै लसा ॥
परमाण-नय-निक्षेप को, न उद्योत अनुभव में दिखै।
दृग-ज्ञान-सुख बलमय सदा, नहिं आन भाव जु मो विषै ॥
मैं साध्य-साधक मैं अबाधक, कर्म अरु तसु फलनि तैं।
चित्पिण्डचण्डअखण्डसुगुणकरण्ड, च्युतिपुनिक्लनि तैं ॥

जिन्होंने अत्यन्त तीक्ष्ण सुबुद्धिरूपी छैनी को अन्तर में डालकर वर्णादि परपदार्थों और रागादि विकारी भावों को भेद कर इनसे निज भगवान आत्मा को न्यारा किया अर्थात् न्यारा जानकर अपने में ही, अपने लिये, अपने द्वारा, अपने को, अपने आप ग्रहण कर लिया; तब गुण-गुणी में तथा ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय में कुछ भी अन्तर नहीं रहा।

उस स्वरूपाचरण चारित्र अर्थात् शुद्धोपयोग की निश्चल दशा में ध्यान, ध्याता और ध्येय का भेदरूप विकल्प नहीं रहता, वचन का विकल्प भी नहीं रहता। वहाँ कर्ता, कर्म और क्रिया का भेद भी नहीं रहता; क्योंकि चिद्भाव ही कर्म है, चिदेश कर्ता है और चेतना क्रिया है ह्व इसप्रकार ये तीनों अभिन्न हैं, अखिन्न हैं अर्थात् खेद से रहित हैं।

शुद्धोपयोग में ज्ञान-दर्शन-चारित्र की ऐसी दशा प्रगट हुई कि जिसमें ये दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीन होकर भी एकरूप में ही शोभायमान हो रहे हैं; अनेकाकार न होकर एकाकार हो रहे हैं।

अनुभव अर्थात् शुद्धोपयोग के काल में प्रमाण, नय और निक्षेपों का उद्योत भी नहीं होता। अनुभव में तो ऐसा भासित होता है कि मैं तो सदा ही दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्यमय हूँ और अन्य कोई भाव मुझमें नहीं है। मैं ही साध्य हूँ, मैं ही साधक हूँ और मैं कर्म और उसके फलों से अबाधक हूँ; प्रचण्ड चैतन्य का पिण्ड हूँ, अखण्ड हूँ और सुगुणों का कण्ड (पिटारा) हूँ और पर्यायों में होनेवाले उतार-चढ़ाव से रहित हूँ।

समयसार परमागम के जीवाजीवाधिकार में वर्णादि में २० प्रकार के पदार्थ लिये हैं और रागादि भाव में ९ प्रकार के विकारी भाव लिये हैं। पर और पर्याय से भिन्न भगवान आत्मा उक्त २९ प्रकार के भावों से भिन्न है। यही भगवान आत्मा दृष्टि का विषय है, परमशुद्ध निश्चयनयरूप ज्ञान का ज्ञेय है और ध्यान का ध्येय है। इसी भगवान आत्मा के दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन, इसे जानने का नाम सम्यग्ज्ञान और इसमें ही जमने-रमने का नाम सम्यक्चारित्र है।

आत्मा ने यह कार्य न तो दूसरों से कराया है और न दूसरों के सहयोग से किया है; अपितु पर से भिन्न अपने आत्मा को, अपने लिये, अपने में, अपने द्वारा स्वयं ही ग्रहण किया है अर्थात् जान लिया है।

यह जान लिया है कि यह ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा मैं ही हूँ।

जब यह आत्मानुभवन की प्रक्रिया चलती है; तब ऐसे विकल्प नहीं उठते कि ज्ञान गुण है, आत्मा गुणी है; आत्मा ज्ञाता है, जानना ज्ञान है और जो जानने में आ रहा है, वह आत्मा ज्ञेय है।

तात्पर्य यह है कि उक्त स्वरूपाचरण की अवस्था में गुण-गुणी और ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय संबंधी विकल्प खड़े नहीं होते।

जिसप्रकार ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय संबंधी विकल्प खड़े नहीं होते; उसीप्रकार ध्यान-ध्याता-ध्येयसंबंधी विकल्प भी खड़े नहीं होते; वचनसंबंधी विकल्प खड़े नहीं होते। कर्ता-कर्म-क्रिया के सन्दर्भ में भी यही स्थिति है; क्योंकि चिदेश आत्मा कर्ता है, चिद्भाव (ज्ञान-दर्शन) कर्म है और चेतना (जानना-देखना) क्रिया है। एक द्रव्य की मर्यादा के भीतर होने से तीनों एक ही हैं, एक आत्मा ही हैं।

शुद्धोपयोग अर्थात् स्वरूपाचरण की दशा में तीनों अभिन्न ही हैं; इसलिये अखिन्न हैं; किसी प्रकार की खिन्नता शुद्धोपयोग के समय नहीं होती।

शुद्धोपयोग में दर्शन-ज्ञान-चारित्र की ऐसी निश्चल दशा प्रगट हो गई है कि जिसमें ये दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन होकर भी एकरूप में ही शोभायमान हो रहे हैं।

अनुभूति के काल में प्रमाण-नय-निक्षेप का उदय भी नहीं होता। तात्पर्य यह है कि प्रमाण-नय-निक्षेप संबंधी विकल्प भी खड़े नहीं होते। उसमें तो ऐसा भासित होता है कि मैं तो सदा ही ज्ञान, दर्शन, सुख और बलमय हूँ; इनके अतिरिक्त कोई अन्य भाव मुझमें नहीं है।

मैं ही साध्य हूँ और मैं ही साधक हूँ तथा कर्म और कर्मफलों से मैं

सदा ही अबाधक हूँ। तात्पर्य यह है कि मुझमें साध्य-साधक का भी भेद नहीं है, विकल्प नहीं है और कर्मचेतना और कर्मफलचेतना की बाधा नहीं है; क्योंकि मैं तो ज्ञानचेतनारूप हूँ। मैं चैतन्य का पिण्ड हूँ, प्रचण्ड हूँ, अखण्ड हूँ और गुणों का पिटारा हूँ तथा सभी प्रकार के विकारी भावों से रहित हूँ।

देशनालब्धि में गुरुमुख से सुनकर किये गये निर्णय के अनुसार पहले विकल्प की भूमिका में ऐसे विकल्प चलते थे कि मैं ही ज्ञान हूँ, मैं ही ज्ञाता हूँ, मैं ही ज्ञेय हूँ; मैं ही ध्यान हूँ, मैं ही ध्याता हूँ और मैं ही ध्येय हूँ; मैं ही कर्ता हूँ, मैं ही कर्म हूँ, मैं ही करण हूँ, मैं ही सम्प्रदान हूँ, मैं ही अपादान हूँ और मैं ही अधिकरण हूँ; मैं प्रमाण का विषय हूँ या शुद्धनय का विषय हूँ, मैं प्रत्यक्ष हूँ या परोक्ष हूँ।

अनुभव के काल में उक्त सभी विकल्पजाल समाप्त हो जाता है और एक अचल, अखण्ड, अभेद, निर्विकल्प भगवान आत्मा ही एकमात्र मैं हूँ हूँ इसप्रकार का विकल्पों से रहित अनुभव (ज्ञान) रह जाता है।

इस निर्विकल्पज्ञान के ज्ञेयभूत भगवान आत्मा में 'यह मैं हूँ' हूँ ऐसा अपनापन बना रहता है और ध्यान का ध्येय भी वही अभेद-अखण्ड आत्मा बना रहता है। हूँ इसी का नाम अनुभव है, शुद्धोपयोग है और स्वरूपाचरण है। ●

मुनिधर्म इतना महान है, इतना सहज है, इतना दुर्धर है कि उसका सही स्वरूप जनता के सामने आवे तो जनता अभिभूत हुए बिना न रहे। मुनिधर्म का स्वरूप निरूपण करते समय हमारे ध्यान में कोई व्यक्ति विशेष नहीं रहना चाहिए; अपितु जिनवाणी रहनी चाहिए, भगवान ऋषभदेव की मुनिदशा रहनी चाहिए।

हूँ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-६२

जो जैसा जाने...

(९)

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेष्यं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवेष्यं लहदि॥

(हरिगीत)

जो जानता मैं शुद्ध हूँ वह शुद्धता को प्राप्त हो।

जो जानता अविशुद्ध वह अविशुद्धता को प्राप्त हो॥

शुद्धात्मा को जानता हुआ अर्थात् शुद्धात्मा का अनुभव करता हुआ जीव शुद्धात्मा को प्राप्त करता है और अशुद्ध आत्मा को जानता हुआ हूँ अनुभवता हुआ जीव अशुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह है कि अपने आत्मा के शुद्ध स्वभाव में अपनापन स्थापित करनेवाला शुद्धता को प्राप्त करता है और अशुद्ध स्वभाव में अपनापन स्थापित करनेवाला अशुद्ध रहता है।

यह गाथा समयसार नामक शास्त्र के संवर अधिकार की १८६वीं गाथा है।

इसमें यह समझाया गया है कि शुद्धात्मा की उपलब्धि से संवर कैसे होता है ?

इस गाथा का अर्थ आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार समझाते हैं हूँ

“जो अविच्छिन्नधारावाही ज्ञान से सदा शुद्धात्मा का अनुभव किया करता है; वह 'ज्ञानमय भाव से ज्ञानमय भाव ही होता है' हूँ इस न्याय से आगामी कर्मों के आस्रवण की निमित्तभूत राग-द्वेष-मोह की संतति का निरोध होने से शुद्धात्मा को ही प्राप्त करता है और जो अज्ञान से सदा ही अशुद्धात्मा का अनुभव किया करता है; वह 'अज्ञानमय भाव से अज्ञानमय भाव ही होता है' हूँ इस न्याय से आगामी कर्मों के आस्रवण की निमित्तभूत

मोह-राग-द्वेष की संतति का निरोध न होने से अशुद्धात्मा को ही प्राप्त करता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि शुद्धात्मा की उपलब्धि (अनुभव) से ही संवर होता है।”

रागी को राग में एकता होने से राग की अविच्छिन्नधारा ही प्रवाहित होती है तथा समकित्ती ज्ञानी के राग से भिन्नता हो जाने से अविच्छिन्न ज्ञानधारा प्रवाहित होती है।

ज्ञानी सदा ही अविच्छिन्नधारावाही आत्मा की शुद्धदृष्टि से परिणामित होने से, अविच्छिन्नरूप से शुद्ध ज्ञानमय परिणामन को प्राप्त हो जाते हैं। उनके ज्ञान व आनन्द के वेदनरूप परिणामन में भंग नहीं पड़ता।

‘ज्ञानमयभाव में से ज्ञानमयभाव ही होता है।’ ह इस न्याय से ज्ञानी के नये कर्म आने में निमित्तभूत राग-द्वेष-मोह की संतति का निरोध हो जाता है। बस, वस्तुतः इसी संततिनिरोध का नाम संवर है। ज्ञान की धारावाही एकाग्रता की प्रगटता और रागमयभाव का निरोध होना ही तो वास्तविक संवर है।

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि जो जीव अपने आत्मा को परपदार्थों और उनके लक्ष्य से होनेवाले रागादि से भिन्न अनुभव करते हैं, उसे निज जानते-मानते हैं; उसी में अपनापन स्थापित कर जहाँ तक संभव हो, उसी में रमण करते हैं, उसी में लीन हो जाते हैं; वे जीव स्वयं शुद्धात्मा को प्राप्त करते हैं, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप परिणामित हो जाते हैं, अनन्तसुखी हो जाते हैं, सिद्धदशा को प्राप्त हो जाते हैं।

जो जीव आत्मा को अशुद्ध अनुभव करते हैं, उसे रागी-द्वेषी-मोही मानते हैं, जानते हैं; गोरा-भूरा मानते हैं, जानते हैं; वे जीव अशुद्धता को प्राप्त होते हैं, राग-द्वेष-मोहरूप परिणामित होते रहते हैं।

अतः आत्मार्थी भाई-बहिनों का यह परम कर्तव्य है कि वे अपने आत्मा को सही रूप में, शुद्धरूप में जानें-पहिचानें, उसी में अपनापन स्थापित करें, जिससे शुद्धात्मा को प्राप्त कर शुद्धतारूप परिणामित होकर अनन्त सुख-शान्ति प्राप्त कर सकें।

इसी भाव का पोषक एक कलश भी आत्मख्याति टीका में प्राप्त होता है।

(मालिनी)

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन,
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते।

तदयमुदयदात्माराममात्मानमात्मा;
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥१२७॥

(रोला)

भेदज्ञान के इस अविरल धाराप्रवाह से।

कैसे भी कर प्राप्त करे जो शुद्धात्म को ॥

और निरन्तर उसमें ही थिर होता जावे।

पर परिणति को त्याग निरंतर शुध हो जावे ॥१२७॥

यदि किसी भी प्रकार से अर्थात् काललब्धि आने पर तीव्र पुरुषार्थ करके धारावाही ज्ञान से शुद्ध आत्मा को निश्चलतया अनुभव किया करे तो यह आत्मा परपरिणति के निरोध होने से नित्य वृद्धिगत आनन्दवाले आत्मा को शुद्ध ही प्राप्त करता है।

इस कलश में आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि निरंतर धारावाहिक रूप से प्रवर्तित ज्ञान ही शुद्धात्मा की प्राप्ति का एकमात्र अमोघ उपाय है। देशनालब्धि से लेकर केवलज्ञान की प्राप्ति तक एकमात्र पुरुषार्थ, ज्ञान की यह धारावाहिक प्रवृत्ति ही है।

सर्वप्रथम जब यह आत्मा देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से देशनालब्धि को प्राप्त होता है; उनकी वाणी में प्रतिपादित वस्तुस्वरूप को विशेषकर आत्मवस्तु को विकल्पात्मक ज्ञान में समझपूर्वक सम्यक्निर्णय करता है और अपने ज्ञानोपयोग को उसी में लगाता है; तब इसी पुरुषार्थ के बल से काललब्धि आने पर प्रायोग्यलब्धि से गुजरता हुआ करणलब्धि को प्राप्त होता है, तदुपरांत सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करता है, सम्यक्त्वाचरणचारित्र्यरूप परिणामित होता है।

सम्यग्दर्शन प्राप्ति के पूर्व जो धारावाहिकज्ञान देशना पर आधारित था, आगमानुसार था, विकल्पात्मक था; सम्यग्दर्शन प्राप्ति के बाद वह अनुभवजन्य हो जाता है, साक्षात् हो जाता है, प्रत्यक्ष हो जाता है, सम्यक् हो जाता है।

यह सम्यग्ज्ञान आगे धारावाहीरूप से विद्यमान रहता है तो चारित्रमोह को शिथिल करता हुआ आगे बढ़ता है और नित्य वृद्धिगत यह धारावाही ज्ञान ही एक दिन केवलज्ञान के रूप में परिणमित हो जाता है।

अतः यह कहना अनुचित नहीं है कि देशनालब्धि से लेकर केवलज्ञान की प्राप्ति तक एकमात्र आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ ज्ञान की यह धारावाहिकता ही है। सम्यग्दर्शन के पूर्व यह धारा देशनाधारित होती है और सम्यग्दर्शन के बाद आत्मानुभवाधारित हो जाती है।

एक तो, जिसमें बीच में मिथ्याज्ञान न आये, ऐसा सम्यग्ज्ञान धारावाही ज्ञान है।

दूसरा एक ही ज्ञेय में उपयोग उपयुक्त रहने की अपेक्षा से ज्ञान की धारावाहिकता कही जाती है अर्थात् जहाँ तक उपयोग एक ज्ञेय में उपयुक्त रहता है, वहाँ तक धारावाही ज्ञान कहलाता है; इसकी स्थिति (छद्मस्थ के) अंतर्मुहूर्त ही है, तत्पश्चात् वह खण्डित होती है।

इन दो अर्थों से जहाँ जैसी विवक्षा हो वहाँ वैसा अर्थ समझना चाहिए। अविरत सम्यग्दृष्टि इत्यादि नीचे के गुणस्थानवाले जीवों के मुख्यतया पहली अपेक्षा लागू होगी और श्रेणी चढ़नेवाले जीव के मुख्यतया दूसरी अपेक्षा लागू होगी, क्योंकि उसका उपयोग शुद्ध आत्मा में ही उपयुक्त है।

अविरत सम्यग्दृष्टि वगैरह नीचे के गुणस्थानवाले अर्थात् चौथे, पाँचवें व छठवें गुणस्थानवाले जीवों के धारावाही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान कहा है, वह पहले कथन की अपेक्षा समझना। यहाँ उपयोग यदा-कदा ही अन्तर सन्मुख होता है; अतः यहाँ उपयोग की अपेक्षा लागू नहीं पड़ती।

श्रेणी चढ़नेवाले जीवों के मुख्यतया दूसरी अपेक्षा लागू पड़ती है। यद्यपि उनके भी (दसवें गुणस्थान तक) अबुद्धिपूर्वक होनेवाला राग तो होता है, पर उसे गौण करके उपयोग की एकाग्रता की मुख्यता से ऐसा कहा गया है।

आठवें गुणस्थान से उपयोग की धारा स्थिर होती है, उस गुणस्थान में जहाँ उपयोग लगाते हैं, वहीं स्थिर रहता है, वहाँ से हटता नहीं है। अतः वहाँ उपयोग की स्थिरता की अपेक्षा धारावाही ज्ञान कहा है।

इसप्रकार धर्म की धारा दो प्रकार की हुई है प्रथम तो चौथे, पाँचवें एवं छठवें गुणस्थानवालों को जो निर्मल सम्यग्ज्ञान प्रकट हुआ, वह धारावाही है। भले उपयोग राग में, पर में जाये; परन्तु अन्तर में सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान प्रगट हो गया है, वह अब छूटता नहीं है।

दूसरे आठवें गुणस्थान से जो उपयोग अन्तरात्मा में आया, वह वहाँ से नीचे न गिरकर ऊपर चढ़कर केवलज्ञान पा लेता है। आठवें गुणस्थान में क्षपकश्रेणी से उपयोग धारावाहिक रहता है और केवलज्ञान को प्राप्त होता है।

यदि हम गहराई से ध्यान दें तो इस कलश में आत्मा से परमात्मा बनने की सम्पूर्ण प्रक्रिया स्पष्ट कर दी गई है। इस एक ही कलश में - छन्द में आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया का क्रमिक विकास सम्पूर्णतः दर्शा दिया गया है। ●

मोक्ष माने मुक्त होना। दुःखों से, विकारों से, बन्धनों से मुक्त होना ही मोक्ष है। मोक्ष आत्मा की अनंत-आनंदमय अतीन्द्रिय दशा है। अबाधित अनंत-आनंदमय होने से मोक्ष ही परमकल्याणकस्वरूप है। इस मोक्ष की प्राप्ति की विधि के प्रदर्शन का ही यह महोत्सव है और इस मोक्ष प्राप्ति के कारण ही गर्भ, जन्म, तप आदि कल्याणकस्वरूप माने गये हैं। इस मोक्ष की प्राप्ति के वाँछक होने के कारण ही हम सब मुमुक्षु कहलाते हैं। यह मोक्ष ही अन्तिम साध्य है, सम्पूर्ण धर्मारोधना इस मुक्ति की प्राप्ति हेतु ही होती है। ह्र पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-८२-८३

सर्वगत आत्मा

(१०)

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्धिटं ।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥

(हरिगीत)

यह आत्म ज्ञानप्रमाण है अर ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है ।
हैं ज्ञेय लोकालोक इस विधि सर्वगत यह ज्ञान है ॥

आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण कहा गया है । ज्ञेय तो सम्पूर्ण लोकालोक है । यही कारण है कि लोकालोकरूप ज्ञेय को जानने वाले ज्ञान को भी सर्वगत कहा गया है ।

यद्यपि आत्मा अपने असंख्य प्रदेशों से बाहर नहीं जाता, तथापि सब को जानने वाला होने से सर्वगत कहा जाता है ।

यह प्रवचनसार नामक परमागम की २३वीं गाथा है ।

इस गाथा में यह बताया गया है कि अपने आत्मप्रदेशों में सीमित रहते हुए भी ज्ञान सम्पूर्ण लोकालोक को जान लेने के स्वभाववाला है और सम्पूर्ण लोकरूप ज्ञेय अपने में रहते हुए भी ज्ञान के द्वारा जान लिये जाने के स्वभाववाले हैं ।

इसप्रकार आत्मा, ज्ञान और ज्ञेय हूँ ये तीनों बराबर हैं । इस अपेक्षा से आत्मा को सर्वगत कहा जाता है ।

ज्ञान और ज्ञेयों का ऐसा विचित्र स्वभाव है कि दूर रहकर ज्ञान ज्ञेयों को जान लेता है और ज्ञेय ज्ञान में जान लिये जाते हैं ।

तात्पर्य यह है कि आत्मा, ज्ञान गुण और उसकी पूर्ण विकसित पर्याय केवलज्ञान हूँ ये तीनों क्षेत्र की अपेक्षा बराबर ही हैं ।

ज्ञान सबकुछ जानता है, अतः सर्वगत है । इसी बात को ऐसा भी कहा जा सकता है कि सभी जगत आत्मगत है; क्योंकि वह आत्मा के द्वारा जाना जाता है ।

लोकालोक को जानने से आत्मा लोकालोक में पहुँच गया हूँ ऐसा कहो या लोकालोक आत्मा में आ गया हूँ ऐसा कहो, दोनों एक ही बात है । ज्ञेय-ज्ञायकरूप निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने से उक्त कथन व्यवहारनय का ही कथन है ।

परमार्थ से देखें तो न तो ज्ञान ज्ञेयों के पास जाता है और न ज्ञेय ज्ञान के पास आते हैं । दोनों अपनी-अपनी जगह पर रहते हुए ही ज्ञान ज्ञेयों को जान लेता है और ज्ञेय ज्ञान के जानने में आ जाते हैं । वस्तु का स्वरूप ऐसा ही है ।

ऐसे अनेक मत हैं जो ऐसा कहते हैं कि आत्मा सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापी है । सारा जगत आत्मामय है; परन्तु जैनदर्शन कहता है कि प्रत्येक वस्तु पूर्णतः स्वतंत्र पदार्थ है । प्रत्येक आत्मा असंख्यातप्रदेशी है । संसारावस्था में प्राप्त देह में उसी के आकार में रहते हैं और सिद्ध अवस्था में अन्तिम देह के आकार में किंचित् न्यून अवस्था में रहते हैं ।

सभी जीव सर्वज्ञस्वभावी हैं । वे सभी पदार्थों को बिना किसी के सहयोग के जान लेने के स्वभाववाले हैं । इस अपेक्षा उन्हें सर्वव्यापी या सर्वगत कहते हैं । सर्वगत का अर्थ कहीं जाना-आना नहीं है, अपितु सभी को जान लेना या जान लेने के स्वभाववाला है ।

केवली भगवान अलोकाकाश में गये बिना, उसे जान लेने के स्वभाव के हैं, जान लेते हैं । अलोकाकाश भी लोकाकाश में आये बिना लोकाकाश में रहनेवाले केवलियों के ज्ञान में जान लिया जाता है । वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है ।

ज्ञान लोकालोक को जानता है । ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है अर्थात् जितने ज्ञेय है; उन सभी को ज्ञान जानता है; इस अपेक्षा से ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है ।

इसप्रकार जानने की अपेक्षा से ही आत्मा को सर्वगत कहा गया है ।

यदि कोई ऐसा कहे कि ज्ञान बड़ा है और आत्मा छोटा; क्योंकि

ज्ञान तो लोकालोक में चला गया, पर आत्मा तो शरीर के प्रदेशों में ही रहता है। वह लोकाकाश के बाहर तो जा नहीं सकता है।

यदि कोई ऐसा कहे कि हम ज्ञान को छोटा मानेंगे और आत्मा को बड़ा; क्योंकि ज्ञान जैसे अनंत गुण आत्मा में है। ज्ञान आत्मा का अनंतवाँ भाग है; क्योंकि आत्मा अनंत गुणों का पिण्ड है।

ज्ञान को छोटा मानने पर ज्ञान की मर्यादा के बाहर जो आत्मा होगा, वह आत्मा अज्ञानरूप हो जाएगा; परन्तु आत्मा तो ज्ञानस्वरूप ही है।

आचार्य कहते हैं कि ज्ञान का ऐसा स्वभाव है कि वह ज्ञेयों में गये बिना ही ज्ञेयों को जान लेता है और ज्ञेयों का ऐसा स्वभाव है कि वे अपनी जगह रहे और ज्ञान में जाने जावे।

अरे भाई ! दूर रहकर भी ज्ञान ज्ञेयों को जान लेता है तथा ज्ञेय ज्ञान में जान लिए जाते हैं ह ज्ञान का तथा ज्ञेयों का ऐसा ही विचित्र स्वभाव है।

ज्ञेय का स्वभाव है ज्ञान में गये बिना अपना स्वभाव/स्वरूप भासित करा दे एवं ज्ञान का यह स्वरूप है कि ज्ञेयों के पास गये बिना, उनमें हस्तक्षेप किए बिना उनके स्वरूप को जान ले।

ऐसा जो ज्ञान का स्वभाव है; वह अतीन्द्रिय ज्ञान में प्रगट हो गया है। अतीन्द्रिय ज्ञान में यह सामर्थ्य है कि वह सुमेरु पर्वत के पास गए बिना भी उसे जान लेगा। सुमेरु पर्वत को तोड़े बिना उसके भीतर क्या है? वह उसे भी जान लेगा। ऐसे जानने में परज्ञेय को कभी कोई समस्या उत्पन्न नहीं हो सकती।

ऐसे ही ज्ञान के जानने से यदि ज्ञेयों को भी कोई समस्या होती तो ज्ञेय भी ऐतराज करते; किन्तु उन्हें तो कोई समस्या नहीं है; क्योंकि ज्ञान उसके पास आएगा भी नहीं और ज्ञेयों को भी ज्ञान के पास जाना नहीं है, ज्ञेय अपना कार्य करते रहेंगे और सर्वज्ञ भगवान उसे जान लेंगे ह ज्ञान का स्वभाव ऐसा ही है। ●

दर्शनज्ञानचारित्र का सेवन

अब इस गाथा में दर्शन-ज्ञान-चारित्र के सेवन करने की प्रेरणा देते हैं; क्योंकि निश्चय से वे तीनों एक आत्मा ही हैं।

(११)

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णवि अप्पाणं चव णिच्छयदो ॥

(हरिगीत)

चारित्र दर्शन ज्ञान को सब साधुजन सेवें सदा।

ये तीन ही हैं आत्मा बस कहे निश्चयनय सदा ॥

साधु पुरुषों को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र का नित्य सेवन करना चाहिए; क्योंकि उन तीनों को निश्चय से एक आत्मा ही जानो।

गाथा में प्राप्त साहुणा पद का अर्थ यहाँ सज्जनोत्तम व्यक्ति हैं। कुछ लोग इसका अर्थ मुनिराज करते हैं और उसके आधार पर यह कहते हैं कि यह समयसार नामक ग्रन्थ मु निराजों के स्वाध्याय की वस्तु है, गृहस्थ श्रावकों को इसका स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

उक्त प्रसंग की चर्चा समयसार अनुशीलन भाग १ में विस्तार से की गई है। जिज्ञासु पाठकों को अपनी जिज्ञासा की शान्ति वहाँ से करना चाहिए। पुनरुक्ति के भय से यहाँ उसे विस्तार देना संभव नहीं है।^१

यह समयसार परमागम की १६वीं गाथा है। इसका भाव आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“यह आत्मा जिस भाव से साध्य तथा साधन हो, उस भाव से ही नित्य सेवन करने योग्य है, उपासना करने योग्य है। इसप्रकार स्वयं विचार करके दूसरों को व्यवहार से समझाते हैं कि साधुपुरुष को दर्शन-ज्ञान-

१. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : समयसार अनुशीलन भाग १, गाथा १६, पृष्ठ २९० से

चारित्र सदा सेवन करने योग्य हैं, सदा उपासना करने योग्य हैं; किन्तु परमार्थ से देखा जाये तो ये तीनों एक आत्मा ही हैं, आत्मा की ही पर्यायें हैं; अन्य वस्तु नहीं हैं।

जिसप्रकार देवदत्त नामक पुरुष के ज्ञान, दर्शन और आचरण, देवदत्त के स्वभाव का उल्लंघन न करने से देवदत्त ही हैं; अन्य वस्तु नहीं।

उसीप्रकार आत्मा में भी घटित कर लेना चाहिए कि आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण आत्मा के स्वभाव का उल्लंघन न करने से आत्मा ही है, अन्य वस्तु नहीं।

इसलिए यह स्वतः ही सिद्ध हो गया कि एक आत्मा ही उपासना करने योग्य है, सेवन करने योग्य है।”

प्रश्न ह्व टीका में निश्चय-व्यवहार की संधि स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि स्वयं अन्तर में तो यह निश्चय करें कि एक आत्मा ही सेवन करने योग्य है, उपासना करने योग्य है; परन्तु दूसरों को समझाते समय व्यवहार से ऐसा समझावें कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सदा सेवन करना चाहिए; क्योंकि ये तीनों एक आत्मा ही हैं, आत्मा की ही पर्यायें हैं, अन्य वस्तु नहीं।

उक्त कथन में प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा ही हैं, तो फिर स्वयं के समझने में और दूसरों को समझाने में यह अन्तर क्यों हो ? क्या यह ऐसी बात नहीं हुई कि हाथी के दाँत खाने के और तथा दिखाने के और ?

उत्तर ह्व नहीं, भाई ! ऐसी बात नहीं है। जबतक भेद करके न समझाया जाये, तबतक अबोध शिष्य की समझ में बात आती नहीं है। यद्यपि इस बात को आठवीं गाथा में विस्तार से स्पष्ट कर दिया गया है, तथापि यहाँ भी संक्षेप में प्रकाश डालते हैं।

जब ज्ञानगुण आत्मसन्मुख होकर आत्मा का अनुभव करता है, तब आत्मा को जाननेरूप ज्ञान का जो निर्मल परिणामन होता है, उसे

सम्यग्ज्ञान कहते हैं; उसीसमय आत्मसन्मुखता की दशा में ही श्रद्धागुण पर में से एकत्व-ममत्व तोड़कर शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा में जो अपनापन स्थापित करता है, श्रद्धागुण का वह आत्माश्रित निर्मल परिणामन सम्यग्दर्शन कहलाता है; उसीसमय जो आत्मा में ही उपयोग केन्द्रित होता है, आत्मा ही ध्यान का ध्येय बनता है और चारित्रगुण में अनंतानुबंधी कषाय के अभावरूप निर्मलता प्रगट होती है, वह सम्यक्चारित्र का अंश है।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र की यह प्रकटता ही दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उपासना कही जाती है, दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन कहा जाता है और यही आत्मा की उपासना है, आत्मा का सेवन है।

यदि अज्ञानी को यही कहते रहें कि आत्मा का सेवन करो, आत्मा की उपासना करो, तो उसकी समझ में कुछ भी न आये; अतः उसे व्यवहार से समझाते हैं कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उपासना करो, दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करो।

समझाने के लिए व्यवहार का आश्रय लेना ही पड़ता है। अतः यह ठीक ही कहा गया है ह्व स्वयं तो यह निश्चय करे कि शुद्धनय का विषयभूत एक भगवान आत्मा ही उपास्य है; पर शिष्यों को व्यवहार से यह समझावे कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करो।

“अभेद सो निश्चय और भेद सो व्यवहार” अथवा “एक सो निश्चय और अनेक सो व्यवहार” ह्व निश्चय-व्यवहार की उक्त परिभाषाओं के अनुसार यहाँ अभेद एक आत्मा के सेवन को निश्चय और उसके भेदरूप दर्शन-ज्ञान-चारित्र के सेवन को व्यवहार कहा गया है।

ध्यान रहे, अभेद को एक और अमेचक भी कहा जाता है और भेद को अनेक और मेचक भी कहा जाता है। इसप्रकार अभेद, अमेचक, एकाकार आत्मा की आराधना निश्चय आराधना है और भेद, मेचक और अनेकाकार आत्मा की आराधना व्यवहार आराधना है।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य हूँ ये तीन हैं, अतः अनेक हैं, अनेकाकार हैं, मेचक हैं, भेद हैं; अतः इनकी उपासना को व्यवहारोपासना कहा जाता है।

शुद्धनय का विषयभूत भगवान् आत्मा एक है, एकाकार है, अभेद है, अमेचक है; अतः उसकी उपासना को निश्चयोपासना कहा गया है।

वहाँ अनेकाकार होना, मेचक होना ही अशुद्धि है, मलिनता है और एकाकार होना, अमेचक होना ही शुद्धि है, निर्मलता है। अतः एक आत्मा की उपासना शुद्धनय है और दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की उपासना अशुद्धनय है। यहाँ इससे अधिक और कुछ नहीं है।

प्रश्न हूँ जब आत्मा की आराधना और दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की आराधना एक ही बात है तो फिर दोनों में से एक को शुद्ध कहना और दूसरे को अशुद्ध कहना कहाँ तक उचित है ?

उत्तर हूँ अरे भाई, इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है; क्योंकि यहाँ अभेद को शुद्धि और भेद को अशुद्धि कहना ही अभीष्ट है।

प्रश्न हूँ ऐसा क्यों है ?

उत्तर हूँ इसलिए कि भेद के लक्ष्य से विकल्पों की उत्पत्ति होती है और अभेद के लक्ष्य से विकल्पों का शमन होकर निर्विकल्प दशा उत्पन्न होती है।

आत्मा का अनुभव निर्विकल्प दशा में ही होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की उत्पत्ति भी निर्विकल्प दशा में ही होती है।

हाँ, इनकी सत्ता विकल्पात्मक दशा में भी रह सकती है, पर उत्पत्ति विकल्पात्मक दशा में नहीं हो सकती है। ●

पर के कल्याण के विकल्प में अधिक उलझना अच्छी बात नहीं है।
मूल बात तो अपने स्वयं के कल्याण करने की ही है।

हूँ पंचकल्याणकप्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-८८

यदि मोक्ष की है कामना

(१२-१३)

जह णाम को वि पुरिसो शयाणं जाणिऊण सदहदि ।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सदहेदव्वो ।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ॥

(हरिगीत)

‘यह नृपति है’ यह जानकर अर्थार्थिजन श्रद्धा करें।
अनुचरण उसका ही करें अति प्रीति से सेवा करें ॥
यदि मोक्ष की है कामना तो जीवनृप को जानिए।
अति प्रीति से अनुचरण करिये प्रीति से पहिचानिए ॥

जिसप्रकार कोई धनार्थी पुरुष राजा को जानकर उसका श्रद्धान करता है और उसका प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है; उसीप्रकार मुमुक्षुओं को जीवरूपी राजा को जानना चाहिये, उसका श्रद्धान करना चाहिए एवं उसी का अनुचरण भी करना चाहिए, उसी में तन्मय हो जाना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि आत्मार्थियों को सर्वप्रथम निज भगवान् आत्मा को जानना चाहिए, फिर यह श्रद्धान करना चाहिए कि यह भगवान् आत्मा मैं ही हूँ। इसके पश्चात् उसी में लीन हो जाना चाहिए; क्योंकि निज भगवान् आत्मा का ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान ही निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य है।

ये गाथायें समयसार परमागम की १७वीं एवं १८वीं गाथायें हैं।

जो बात विगत (११वीं) गाथा में कही गई है, वही बात इन गाथाओं में उदाहरण देकर समझाई गई है।

आचार्य जयसेन इन गाथाओं की व्याख्या करते समय आत्मानुभूति पर विशेष बल देते हैं। वे स्वसंवेदनरूप ज्ञान से जानने को ही

जानना कहते हैं और निर्विकल्प रूप समाधि द्वारा अनुभव करने को कहते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“जिसप्रकार धनार्थी पुरुष पहले तो राजा को प्रयत्नपूर्वक जानता है, फिर उसका श्रद्धान करता है और फिर उसी का अनुचरण करता है, सेवा करता है, उसकी आज्ञा में रहता है, उसे हर तरह से प्रसन्न रखता है;

उसीप्रकार मोक्षार्थी पुरुष को पहले तो आत्मा को जानना चाहिए, फिर उसी का श्रद्धान करना चाहिए; और फिर उसी का अनुचरण करना चाहिए, अनुभव के द्वारा उसी में लीन हो जाना चाहिए; क्योंकि साध्य की सिद्धि की उपपत्ति इसीप्रकार सम्भव है, अन्यप्रकार से नहीं।

अब इस बात को विशेष स्पष्ट करते हैं ह जब आत्मा को, अनुभव में आने पर अनेक पर्यायरूप भेदभावों के साथ मिश्रितता होने पर भी सर्वप्रकार से भेदविज्ञान में प्रवीणता से ‘जो यह अनुभूति है, सो ही मैं हूँ’ ह ऐसे आत्मज्ञान से प्राप्त इस आत्मा को जैसा जाना है, वैसा ही है ह इसप्रकार की प्रतीति जिसका लक्षण है ह ऐसा श्रद्धान उदित होता है; तब समस्त अन्यभावों का भेद होने से निःशंक स्थिर होने में समर्थ होने से आत्मा का आचरण उदय होता हुआ आत्मा को साधता है। ऐसे साध्य आत्मा की सिद्धि की इसीप्रकार उपपत्ति है।

परन्तु जब ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा आबाल-गोपाल सबके अनुभव में सदा स्वयं ही आने पर भी अनादिबंध के वश परद्रव्यों के साथ एकत्व के निश्चय से मूढ़ ह अज्ञानीजन को ‘जो यह अनुभूति है, वही मैं हूँ’ ह ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता और उसके अभाव से, अज्ञात का श्रद्धान गधे के सींग के समान है, इसलिए श्रद्धान भी उदित नहीं होता; समस्त अन्यभावों के भेद से आत्मा में निःशंक स्थिर होने की असमर्थता के कारण आत्मा का आचरण उदित न होने से

आत्मा को साध नहीं सकता। इसप्रकार साध्य आत्मा की सिद्धि की अन्यथा अनुपपत्ति है।”

आचार्य अमृतचन्द्र के उक्त कथन का पहला पैरा तो एकदम गाथा के अनुसार ही है; किन्तु दूसरे और तीसरे पैरे में वे साध्य की सिद्धि की उपपत्ति व अनुपपत्ति किसप्रकार होती है ह यह बात स्पष्ट करते हैं; जो गंभीरता से विचार करने योग्य है, गहराई से समझने योग्य है।

यह भगवान आत्मा स्वभाव से ही स्वपरप्रकाशक है, सभी पदार्थों को जानना इसका सहज स्वभाव है। अतः सदाकाल ही इसके स्वपर-प्रकाशक ज्ञान का उदय रहता है और इसके ज्ञान में अपनी पर्यायगत योग्यतानुसार स्व-पर पदार्थ प्रतिभासित होते रहते हैं। अपनी आत्मा में उत्पन्न होनेवाले पुण्य-पापरूप शुभाशुभ भाव भी ज्ञात होते रहते हैं और जानने-देखनेवाला अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा भी ज्ञात होता रहता है।

यद्यपि ये सभी भाव मिश्रितरूप से ही ज्ञात होते हैं, अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा भी पर्यायरूप अनेक भेदभावों के साथ मिश्रित ही दिखाई देता है; तथापि जब कोई आत्मा भेदज्ञान की प्रवीणता से इन सबमें ‘जो यह अनुभूति है, वही मैं हूँ’ ह यह जान लेता है और उसे यह प्रतीति भी आ जाती है, श्रद्धान भी हो जाता है; तब भगवान आत्मा को अन्य भावों से भिन्न जान लिए जाने से, उसमें निःशंक स्थिर हो जानेरूप आचरण का उदय होता है। इसप्रकार यह आत्मा अपने को साधता है, अपनी साधना करता है।

आत्मा की साधना की यही विधि है और साध्य की सिद्धि की उपपत्ति भी इसीप्रकार होती है।

तात्पर्य यह है कि परपदार्थों के साथ-साथ अपना आत्मा भी अपनी विकारी-अविकारी पर्यायों सहित प्रतिसमय हमारे ज्ञान का डोय बनता रहता है, जैसा कि टीका में स्पष्टरूप से उल्लेख है कि

अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा आबाल-गोपाल सबके अनुभव में सदा स्वयं आ रहा है।

ध्यान रहे, यहाँ 'अनुभूति' शब्द का प्रयोग निर्मल पर्याय के अर्थ में न होकर त्रिकालीध्रुव के अर्थ में हुआ है। अनुभूतिस्वरूप आत्मा माने त्रिकालीध्रुव ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा।

यद्यपि अन्य पदार्थों एवं अपने विकारी-अविकारी भावों के साथ यह अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा भी सभी ज्ञानी-अज्ञानीजनों को सदा अनुभव में आता रहता है; तथापि भेदज्ञान के अभाव में अज्ञानीजन उसे पहिचान नहीं पाते, जान नहीं पाते; इसकारण उसमें जम भी नहीं पाते, रम भी नहीं पाते।

ज्ञानीजन भेदज्ञान के बल से उसे परपदार्थों एवं अपने विकारी-अविकारी भावों से भिन्न जानकर, भिन्न मानकर, अपनी-अपनी योग्यतानुसार उसी में जम जाते हैं, रम जाते हैं।

इसप्रकार अज्ञानियों को आत्मा अनुपलब्ध रहता है और भेदज्ञानियों को सदा उपलब्ध रहता है। यही आत्मा की उपलब्धि और अनुपलब्धि का रहस्य है।

प्रश्न ह्व यहाँ आबाल-गोपाल शब्द का क्या भाव है ?

उत्तर ह्व 'अज्ञानी-ज्ञानी सभी लोग' ह्व यही अर्थ है आबाल-गोपाल का। बाल माने बालक और गोपाल माने भगवान। इसप्रकार आबाल-गोपाल का अर्थ हुआ बालक से भगवान तक सभी लोग। बाल माने अबोध बालक और गोपाल माने समझदार वृद्ध। इसप्रकार आबाल-गोपाल का अर्थ हुआ अबोध बालक से लेकर समझदार वृद्धों तक सभी लोग। बाल माने बालक और गोपाल माने ग्वाले। दुनिया में बालक और ग्वाला ह्व दोनों को ही अल्पबुद्धि माना जाता है।

इसप्रकार पूरे वाक्य का भाव यह है कि यह अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा अबोध बालक और समझदार वृद्ध, ज्ञानी-अज्ञानी सामान्यजन और भगवान सभी के अनुभव में सदा आ रहा है। ●

शुद्धात्मा का ध्यान धर

(१४)

जो इच्छइ णिस्सरिदुं संसारमहण्णवाउ रूद्धाओ ।
कम्मिधणाण डहणं सो ज्ञायइ अप्पयं सुद्धं ॥

(हरिगीत)

जो भव्यजन संसार-सागर पार होना चाहते ।
वे कर्मईधन-दहन निज शुद्धात्मा को ध्यावते ॥

जो जीव भयंकर संसाररूपी समुद्र से पार होना चाहते हैं, वे जीव कर्मरूपी ईधन को जलाने वाले अपने शुद्ध आत्मा का ध्यान करते हैं; क्योंकि शुद्धात्मा के ध्यानरूपी अग्नि ही कर्मरूपी ईधन को जलाने में समर्थ होती है। अतः मुमुक्षु का एकमात्र परम कर्तव्य निज शुद्धात्मा का ध्यान ही है।

यह गाथा अष्टपाहुड में समागत मोक्षपाहुड की २६वीं गाथा है। इसमें अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि यदि आप संसार समुद्र से पार होना चाहते हैं, अष्टकर्मों से मुक्त होना चाहते हैं, अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं तो कर्म ईधन को जलाने में समर्थ शुद्धात्मा का ध्यान करो; क्योंकि केवल शुद्धात्मा का ध्यान ही अनन्त सुख की प्राप्ति का एकमात्र साधन है।

शुभभाव, शुभ शारीरिक क्रियाओं को मुक्ति का साधन माननेवालों को मोक्षपाहुड की इस गाथा पर ध्यान अवश्य देना चाहिए; जिसमें अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि अनन्तसुख की प्राप्ति का उपाय एकमात्र निज शुद्धात्मा का ध्यान ही है। ●

अन्तर में विद्यमान ज्ञानानन्दस्वभावी त्रैकालिक ध्रुव आत्मतत्त्व ही परमसत्य है। उसके आश्रय से उत्पन्न हुआ ज्ञान, श्रद्धान एवं वीतराग परिणति ही उत्तमसत्यधर्म है।
ह्व धर्मकेदशलक्षण, पृष्ठ ८०

अन्य द्रव्यों में विहार मत कर

(१५)

मोक्षपथे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय ।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥

(हरिगीत)

मोक्षपथ में थाप निज को चेतकर निज ध्यान धर ।
निज में ही नित्य विहार कर पर द्रव्य में न विहार कर ॥

हे आत्मन् ! तू स्वयं को निजात्मा के अनुभवरूप मोक्षमार्ग में स्थापित कर, निजात्मा का ही ध्यान धर, निजात्मा में ही चेत, निजात्मा का ही अनुभव कर एवं निजात्मा के अनुभवरूप मोक्षमार्ग में ही नित्य विहार कर, अन्य द्रव्यों में विहार मत कर, उपयोग को अन्यत्र मत भटका, एक आत्मा का ही ध्यान धर ।

यह समयसार परमागम की ४१२वीं गाथा है । इसमें आचार्यदेव उपदेश दे रहे हैं, आदेश दे रहे हैं कि अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित कर दे; उसी में चेत, उसी का ध्यान कर, उसमें ही विहार कर; अन्य द्रव्यों में विहार मत कर ।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“यद्यपि यह अपना आत्मा अनादिकाल से अपनी प्रज्ञा के दोष से परद्रव्य और राग-द्वेषादि में निरन्तर स्थित है; तथापि हे आत्मन् ! तू अपनी प्रज्ञा के गुण के द्वारा स्वयं को वहाँ से हटाकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र में निरन्तर स्थापित करके, समस्त चिन्ता (चिन्तवन-विकल्प) का निरोध करके अपने में अत्यन्त एकाग्र होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही ध्यान कर तथा समस्त कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग द्वारा शुद्धज्ञानचेतनामय होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही चेत, अनुभव

कर तथा द्रव्य के स्वभाव के वश से प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाले परिणामों के द्वारा तन्मय परिणामवाला (दर्शन-ज्ञान-चारित्रवाला) होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही विहार कर तथा एक ज्ञानरूप को ही अचलतया अवलम्बन करता हुआ ज्ञेयरूप समस्त परद्रव्यों की उपाधियों में किञ्चित्मात्र भी विहार मत कर ।”

यद्यपि यह भगवान आत्मा अनादि से ही स्वयं की प्रज्ञा के दोष से अर्थात् स्वयं की ही विभावपरिणामरूप पर्यायगत योग्यता से स्वयं ही राग-द्वेषरूप परिणम रहा है; तथापि स्वयं ही प्रज्ञा के गुण से अर्थात् स्वयं की ही स्वभावपरिणामरूप पर्यायगत योग्यता से स्वयं को विकारी परिणमन से हटाकर दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित कर सकता है ।

तात्पर्य यह है कि न तो इसके विकाररूप परिणामन में किसी पर का कोई दोष है और न स्वभावरूप परिणामन ही कोई और करायेगा । यह स्वयं ही विकारी परिणामन को छोड़कर स्वभावरूप परिणामन कर सकता है। अतः हे आत्मन्! अब सम्यग्दर्शनत्रयरूप परिणामन कर स्वयं को स्वयं ही मोक्षमार्ग में स्थापित कर ।

जिस भगवान आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति होती है; समस्त विकल्पों का अभाव करके एकमात्र उसी का ध्यान कर, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के अभावपूर्वक ज्ञानचेतना में ही चेत और निज भगवान आत्मा में ही विहार कर, अन्य द्रव्यों में विहार मत कर; क्योंकि तुझे वहाँ कुछ भी उपलब्ध होनेवाला नहीं है ।

अरहंत भगवान भी अपनी दिव्यध्वनि में यही कहते हैं कि तू हमारी ओर क्या देखता है ? स्वयं की ओर देख; क्योंकि निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति तो तुझे स्वयं के ही आश्रय से होगी, हम तो तेरे लिए परद्रव्य ही हैं । तू परद्रव्य में विहार मत कर, स्वयं में ही विहार कर!

इसप्रकार आचार्यदेव यहाँ अपने उपयोग को समस्त जगत से हटाकर आत्मा में ही लगाने की प्रेरणा दे रहे हैं ।

इस गाथा में कहा है कि अपनी आत्मा में ही चेत अर्थात् अपनी

आत्मा का अनुभव कर। चेतना तीन प्रकार की हैं ह्व कर्मचेतना, कर्मफल-चेतना और ज्ञानचेतना।

करने-करनेकी धुन सवार होनेको कर्मचेतना कहते हैं और कर्मफल भोगने की धुन सवार होनेको कर्मफलचेतना कहते हैं और मात्र सहज ज्ञाता-दृष्टा स्वभावरूप रहनेको ज्ञानचेतना कहते हैं अर्थात् कर्ता, भोक्ता व ज्ञाता को क्रमशः कर्मचेतनावाला, कर्मफलचेतनावाला और ज्ञानचेतना वाला कहते हैं।

एकेन्द्रियादि जीव को लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तक कर्मफलचेतना की प्रधानता है; क्योंकि कीड़े-मकोड़े को जो भी मिलता है, वही खा लेते हैं। उन्हें तो मात्र अनुकूलता-प्रतिकूलता का वेदन होता है। इसप्रकार एकेन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय तक कर्मफलचेतना की ही प्रधानता है।

फिर सैनी पंचेन्द्रिय होकर जो मनुष्य बड़े-बड़े नेता बन जाते हैं, उनमें कर्मचेतना की प्रधानता पाई जाती है।

ज्ञानचेतना वाले हैं जो यह मानते हैं कि जो होना होगा वह पर्याय की योग्यता के अनुसार होगा, मैं तो मात्र सहज ज्ञाता-दृष्टा हूँ।

जो लोग ऐसा कहते हैं कि मैं न तो ज्ञाता-दृष्टा हूँ और न ही मैं कर्ता हूँ और न भोक्ता हूँ। तो उनके लिए कहते हैं कि वे पुद्गल हैं, क्योंकि वे सभी का निषेध कर रहे हैं।

किसी अपेक्षा से पर को जानने का निषेध भी है, क्योंकि क्षयोपशमज्ञान में दो काम एकसाथ नहीं हो सकते।

जिनवाणी में ऐसा उपदेश कदम-कदम पर मिलेगा कि तू अपने भगवान आत्मा को जान और इस जगत से दृष्टि हटा। जगत को तो बहुत बार जाना, लेकिन उसके जानने से तुम्हें आज तक क्या मिला ? यह उपदेश की भाषा है, तत्त्वप्रतिपादन की नहीं।

तत्त्वप्रतिपादन में तो ऐसा कहेंगे कि केवलज्ञान में सारा लोकालोक

एकसाथ झलकता है; इसलिए केवलज्ञान में तो यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता कि किसे जाने और किसे नहीं जाने ? यह प्रश्न तो क्षयोपशमज्ञान में ही संभव है; परन्तु क्षयोपशमज्ञान की प्रत्येक समय की पर्याय में यह योग्यता तो अनादिकाल से ही सुनिश्चित है कि वह कब और किसको जाने।

अतएव इसमें कर्तृत्व का अभिमान नहीं होना चाहिए कि मैंने ऐसा किया, तो ऐसा हुआ। अरे ! तुम्हारा ऐसा होना था, इसलिए ऐसा हुआ।

पण्डित टोडरमलजी कहते हैं ह्व भली होनहार है; इसलिए जिस जीव को ऐसा विचार आता है...अर्थात् जिनके संसार समुद्र का किनारा निकट आ गया है, उन्हीं को ऐसी बुद्धि आती है, इसलिए पर में कर्तृत्व का अभिमान नहीं करना।

अतएव ४१२ गाथा में कहा है कि अपने भगवान आत्मा में ही विहार करो अर्थात् अपने भगवान आत्मा को ही जानो।

समयसार को सुनकर कोई यह कहे कि हम स्त्री, पुत्र, मकान, जायदाद छोड़कर साधु बननेको तैयार हैं तो समयसार उसकी समझ में नहीं आता; क्योंकि समयसार में तो यह कहा है कि ये स्त्री, पुत्र, मकान, जायदाद तुम्हारे हैं ही नहीं। आत्मा तो त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति से युक्त है अर्थात् आत्मा ने आजतक किसी पर का न कुछ ग्रहण किया और न ही कुछ छोड़ा है।

इसलिए आचार्यदेव गाथा नं. ४१२ में कहते हैं कि अन्य सभी विकल्पों को तोड़कर अपनी आत्मा में ही स्थिर हो जाओ और उसी का ही ध्यान करो।

वास्तव में यह ध्यान भी करने की चीज नहीं, अपितु होने की चीज है। यह करने की भाषा तो उपदेश की भाषा है। समयसार की भाषा तत्त्व प्रतिपादन की भाषा है, द्रव्यानुयोग की भाषा है।

‘ऐसा होता है’ ह्यह कर्णानुयोग की भाषा है, ‘ऐसा हुआ’ ह्यह प्रथमानुयोग की भाषा है, ‘ऐसा करना चाहिए’ ह्यह चरणानुयोग की भाषा है और ‘वस्तुस्वरूप ऐसा है’ ह्यह द्रव्यानुयोग की भाषा है।

समयसार में द्रव्यानुयोग की भाषा का प्रयोग करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ और आत्मानुभूति से प्राप्त होनेवाला तत्त्व हूँ।

यहाँ तो स्पष्टरूप से उपदेश की भाषा में कह रहे हैं कि हे आत्मन् ! तू स्वयं को मोक्षपथ में स्थापित कर, निज आत्मा का ही ध्यान धर, निजात्मा में ही चेत, निजात्मा का अनुभव कर; अपने आत्मा में ही विहार कर, अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।

प्रत्येक आत्मार्थी मुमुक्षु भाई-बहिन का परम कर्तव्य है कि वह आचार्य का उपदेश/आदेश का अक्षरशः पालन करें। ●

व्यवहार के बिना निश्चय का प्रतिपादन नहीं होता और व्यवहार के निषेध बिना निश्चय की प्राप्ति नहीं होती। निश्चय के प्रतिपादन के लिए व्यवहार का प्रयोग अपेक्षित है और निश्चय की प्राप्ति के लिए व्यवहार का निषेध आवश्यक है। यदि व्यवहार का प्रयोग नहीं करेंगे तो वस्तु हमारी समझ में नहीं आवेगी, यदि व्यवहार का निषेध नहीं करेंगे तो वस्तु प्राप्त नहीं होगी।

व्यवहार का प्रयोग भी जिनवाणी में प्रयोजन से ही किया गया है और निषेध भी प्रयोजन से ही किया गया है। जिनवाणी में बिना प्रयोजन एक शब्द का भी प्रयोग नहीं होता।

ह्य परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ ५५

दर्शन-ज्ञान-चारित्र

(१६-१७-१८)

जीवादीसद्ग्रहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं ।
रागादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥
तच्चरुई सम्मत्तं तच्चग्रहणं च हवइ सण्णाणं ।
चारित्तं परिहारो परूवियं जिणवरिदेहिं ॥
जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं णेयं ।
तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं ॥

(हरिगीत)

जीवादि का श्रद्धान सम्यक् ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।
रागादि का परिहार चारित्त यही मुक्तीमार्ग है।
तत्त्वरुचि सम्यक्त्व है तत्त्ग्रहण सम्यग्ज्ञान है।
जिनदेव ने ऐसा कहा परिहार ही चारित्र है।
जानना ही ज्ञान है अरु देखना दर्शन कहा।
पुण्य-पाप का परिहार चारित्र यही जिनवर ने कहा।

जीवादि पदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है और उन्हीं का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है तथा रागादि भावों का त्याग सम्यक्चारित्र है ह्य बस यही मोक्ष का मार्ग है।

तत्त्वरुचि सम्यग्दर्शन है, तत्त्ग्रहण सम्यग्ज्ञान है और मोह-राग-द्वेष एवं परपदार्थों का त्याग सम्यक्चारित्र है ह्य ऐसा जिनेन्द्र देवों ने कहा है।

जो जानता है, वह ज्ञान है; जो देखता है, वह दर्शन है और पुण्य-पाप के परिहार को चारित्र कहा गया है; क्योंकि पुण्य और पाप दोनों ही रागभावरूप हैं और चारित्र वीतरागभावरूप होता है।

ये गाथायें क्रमशः समयसार की गाथा १५५वीं, अष्टपाहुड़ : मोक्षपाहुड़ की गाथा ३८वीं एवं ३७वीं हैं।

इनमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र का विविध प्रकार से विवेचन है।

पहली गाथा समयसार की होने से उस पर आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका भी उपलब्ध है; शेष दो गाथाओं पर प्रामाणिक संस्कृत टीका उपलब्ध नहीं है।

प्रथम गाथा की आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों को ही ज्ञान पर घटित करते हैं; क्योंकि पूर्व में यह कहते आये हैं कि ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है। उक्त कथनों से इस कथन की संगति बैठाने का ही यह सफल प्रयास है।

उनके कथन का भाव इसप्रकार है ह

“वस्तुतः मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। उनमें जीवादि-पदार्थों के श्रद्धानस्वभावरूप ज्ञान का होना ह परिणामना सम्यग्दर्शन है, जीवादि पदार्थों के ज्ञानस्वभावरूप ज्ञान का होना - परिणामना सम्यग्ज्ञान है और रागादि के त्यागस्वभावरूप ज्ञान का होना - परिणामना सम्यक्चारित्र है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ह तीनों ही एक ज्ञान का ही भवन है, परिणामन है; इसलिए ज्ञान ही परमार्थतः मोक्ष का कारण है।”

उक्त संदर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है ह

श्रद्धानस्वभाव से ज्ञान का होना ह ऐसा जो टीका में कहा है, वहाँ ज्ञान का अर्थ आत्मा है। उस प्रकरण में आत्मा न कहकर ज्ञान कहने का प्रयोजन रागादि विकार से रहित आत्मा का ज्ञानरूप परिणामन है।

जीवादि पदार्थों के ज्ञानस्वभाव से ज्ञान का होना परिणामना ज्ञान है।

देखो, यहाँ शास्त्रज्ञान की बात नहीं है, वह तो परलक्ष्यी ज्ञान है। यहाँ तो आत्मा के ज्ञान का अन्तर में स्व-संवेदनरूप स्व का प्रत्यक्ष ज्ञानरूप होने को ज्ञान कहा है। ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा जो अपने स्वरूप से ज्ञानरूप परिणामता है, उसे ज्ञान कहते हैं और वह वीतरागी

पर्याय है। भाई ! त्रिलोकीनाथ वीतराग सर्वज्ञदेवों ने इन्द्रों व गणधरों के बीच धर्मसभा में जो कहा है ह वही यह बात है।

आत्मा का जीवादि पदार्थों को जाननेरूप परिणामना या निजज्ञायक के लक्ष से ज्ञानपर्यायरूप परिणामना ही सम्यग्ज्ञान है। पुण्य-पाप से रहित शुद्ध निज ज्ञायक को जाननेवाला अर्थात् ज्ञायक के लक्ष्य से परिणामन करनेवाला ज्ञान भी पुण्य-पाप के भावों से रहित है। भाई ! यह सम्यग्ज्ञान की पर्याय वीतरागी पर्याय है।

अब कहते हैं कि रागादि के त्यागस्वभाव से ज्ञान का होना परिणामना चारित्र है।

देखो, पाँच महाव्रतों को पालने का परिणाम, अट्ठाईस मूलगुणों के पालन करने का परिणाम राग है। अव्रत का परिणाम पापभाव है, व्रत का परिणाम पुण्यभाव है। इन दोनों के त्यागभावरूप ज्ञान का अर्थात् आत्मा का होना परिणामना धर्म है। यहाँ आत्मा ज्ञानस्वभाव से अन्तर में एकाग्र होकर परिणामता है, वह सहज ही रागरूप नहीं होता।

यह परिणामन ही राग के अभावरूप है तथा यही सम्यक्चारित्र है।

इसप्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र ह तीनों एक ज्ञान का ही भवन (परिणामन) है। इसलिए ज्ञान ही परमार्थ (वास्तविक) मोक्ष का कारण है।

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा में समागत विषयवस्तु को निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“जीवादि नौ पदार्थों का विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान सम्यग्दर्शन है; इन्हीं पदार्थों का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित सुनिश्चित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और उक्त सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक रागादि का परिहार सम्यक्चारित्र है ह यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

भूतार्थनय से जाने हुए उन्हीं नवपदार्थों को शुद्धात्मा से भिन्न अवलोकन करना अर्थात् उन पदार्थों से भिन्न अपने आत्मा का अवलोकन करना

निश्चय सम्यक्त्व है, भिन्न जानना निश्चय सम्यग्ज्ञान है और इन दोनों पूर्वक रागादि विकल्पों से रहित होकर निज शुद्धात्मा में रहना निश्चय सम्यक्चारित्र है और यही निश्चय मोक्षमार्ग है।”

इसीप्रकार का भाव पुरुषार्थसिद्धयुपाय में भी प्राप्त होता है, जो इस प्रकार है ह

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्मरूपं तत् ॥२२ ॥
कर्त्तव्योऽध्यवसायः सद्नेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु।
संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत् ॥३५ ॥
चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥३९ ॥

जीवाजीवादि तत्त्वार्थों का विपरीताभिनिवेश से रहित श्रद्धान सदा ही करना चाहिए; क्योंकि वह आत्मा का स्वरूप है।

अनेकान्तस्वरूप तत्त्वों का संशय, विपर्यय और अनध्यसाय रहित निर्णय करने का अध्यवसाय (प्रयास) अवश्य करना चाहिए; क्योंकि वह सम्यग्ज्ञान है और आत्मा का निजरूप है।

समस्त सावद्य के त्याग से होनेवाला, सम्पूर्ण कषायों से रहित, परपदार्थों से उदासीन, निर्मलचारित्र आत्मस्वरूप होता है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की परिभाषा बतानेवाले उक्त तीनों छन्द का अंतिम पद ‘आत्मरूपं तत्’ है, जो यह बताता है कि ये तीनों आत्मरूप हैं, आत्मा के स्वरूप ही हैं।

इनकी आत्मरूपता इनके निश्चयस्वरूप को बताती है और शेष विशेषण इनके व्यवहाररूप को बतानेवाले हैं। इसप्रकार इन परिभाषाओं में निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकार की परिभाषायें आ जाती हैं।

इसप्रकार इस गाथा में यह सुनिश्चित कर दिया गया है कि मुक्ति का कारण एक त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा अथवा उसके आश्रय से उत्पन्न होनेवाली रत्नत्रयरूप परिणति है। ●

दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता

(१९-२०)

गाणं चरित्तहीणं लिंगग्रहणं च दंसणविहूणं ।
संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सत्त्वं ॥
गाणं चरित्तसुद्धं लिंगग्रहणं च दसणविसुद्धं ।
संजमसहिदो य तवो थोओ वि महाफलो होइ ॥

(हरिगीत)

दर्शन रहित यदि वेष हो चारित्र विरहित ज्ञान हो ।
संयम रहित तप निरर्थक आकाश-कुसुम समान हो ॥
दर्शन सहित हो वेष चारित्र शुद्ध सम्यग्ज्ञान हो ।
संयम सहित तप अल्प भी हो तदपि सुफल महान हो ॥

चारित्रहीन ज्ञान निरर्थक है, सम्यग्दर्शन के बिना लिंग-ग्रहण अर्थात् नग्न दिग्म्बर दीक्षा लेना निरर्थक है और संयम बिना तप निरर्थक है।

सम्यग्ज्ञान की सार्थकता तदनुसार आचरण करने में है। तप भी संयमी को ही शोभा देता है और साधुवेष भी सम्यग्दृष्टियों का ही सफल है।

चारित्र से शुद्ध ज्ञान, सम्यग्दर्शन सहित लिंगग्रहण एवं संयम सहित तप यदि थोड़ा भी हो तो महाफल देनेवाला होता है।

ये गाथायें अष्टपाहुड़ के शीलपाहुड़ की पाँचवीं-छठवीं गाथायें हैं। इन गाथाओं में यह बताया गया है कि चारित्र से रहित ज्ञान, सम्यग्दर्शन के बिना दिग्म्बर वेष धारण करना और संयम बिना तप करना निरर्थक हैं, निष्फल हैं; किसी काम के नहीं हैं।

यदि सम्यग्ज्ञान के साथ चारित्र हो, सम्यग्दर्शन सहित दिग्म्बर वेष हो और संयम के साथ तप हो; तो थोड़ा होने पर भी महान फल होता है।

तात्पर्य यह है कि मुक्ति की प्राप्ति सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित चारित्र की पूर्णता से होती है। ●

परमार्थ को जाने बिना

(२१-२२)

परमदृग्मिदु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेदि ।
तं सव्वं बालतवं बालवदं बेति सव्वण्हू ॥
वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमदृग्बाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विदंति ॥

(हरिगीत)

परमार्थ से हों दूर पर तप करें व्रत धारण करें ।
सब बालतप है बालव्रत वृषभादि सब जिनवर कहें ॥
व्रत नियम सब धारण करें तप शील भी पालन करें ।
पर दूर हों परमार्थ से ना मुक्ति की प्राप्ति करें ॥

परमार्थ में अस्थित अर्थात् निज भगवान आत्मा के अनुभव से रहित जो जीव तप करता है, व्रत धारण करता है; उसके उन व्रत और तप को सर्वज्ञ भगवान बालतप एवं बालव्रत कहते हैं ।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान बिना ह्व आत्मानुभव के बिना किये गये व्रत और तप निरर्थक हैं ।

शील और तप को करते हुए भी, व्रत और नियमों को धारण करते हुए भी जो जीव परमार्थ से बाह्य हैं, परमार्थ अर्थात् सर्वोत्कृष्ट पदार्थ निज भगवान आत्मा के अनुभव से रहित हैं, उन्हें निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती है । निर्वाण की प्राप्ति आत्मानुभवियों को ही होती है ।

ये गाथायें समयसार के पुण्य-पापाधिकार में प्राप्त १५२वीं और १५३वीं गाथायें हैं । इनमें आत्मज्ञान की, आत्मध्यान की महिमा गाई जा रही है, बताई जा रही है ।

यहाँ यह कहा जा रहा है कि जो जीव परमार्थ से बाह्य हैं अथवा परमार्थ में अस्थित हैं; त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा को नहीं

जानते हैं; उनके व्रत, नियम, तप, शील ह्व सभी व्यर्थ हैं; क्योंकि उन्हें आत्मज्ञान बिना मात्र इनसे मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

तात्पर्य यह है कि आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान से संयुक्त ज्ञानीजन व्रत, तप, शीलादि के बिना भी मुक्त होते देखे जाते हैं; परन्तु आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान से शून्य अज्ञानीजन व्रतनियमादि का पालन करते हुए भी मुक्त नहीं होते; इसकारण यह सहज ही सिद्ध है कि आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यानरूप आत्मज्ञान ही मुक्ति का एकमात्र हेतु है ।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यदि आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान के सद्भाव में ज्ञानियों को व्रत, नियम, शील व तपादि के बिना भी मुक्ति प्राप्त हो सकती है तो फिर तो ज्ञानियों का विषय-व्यापार में प्रवृत्त होना भी पाप नहीं होगा; क्योंकि व्रत-नियमादि में विषय-व्यापार का ही तो त्याग होता है । विषय-व्यापार के त्याग का नाम ही तो व्रत है, नियम है, शील है ।

आचार्य जयसेन ने स्वयं इसप्रकार का प्रश्न उपस्थित कर, इसका तर्कसंगत उत्तर दिया है; जो इसप्रकार है ह्व

“शंका ह्व व्रत, नियम, शील एवं बहिरंग तपश्चरणादिक के बिना भी यदि मोक्ष होता है तो फिर तो संकल्प-विकल्प रहित ज्ञानियों का विषय-व्यापार में रहना भी पाप नहीं होगा और यदि तपश्चरण के अभाव में भी मोक्ष होता है तो इससे तो सांख्य और शैवमत की ही सिद्धि होगी ।

समाधान ह्व यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि यह तो हम अनेक बार कह चुके हैं कि निर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिलक्षण भेदज्ञान सहित जीवों को मोक्ष होता है । इसप्रकार के भेदज्ञान के समय तो मन, वचन और काय का वह शुभरूप व्यापार भी नहीं रहता, जिसे परम्परा से मुक्ति का कारण कहा जाता है; तो फिर विषय-कषायरूप अशुभ व्यापार के होने का सवाल ही कहाँ रहता है ?

जिसप्रकार चावल के अंतरंग तुष (लालकण) के चले जाने पर बहिरंग तुष (छिलका) नहीं रह सकता; उसीप्रकार चित्त में स्थित रागभाव के नष्ट हो जाने पर बहिरंग विषय-व्यापार भी दिखाई नहीं देता।

जिसप्रकार परस्पर विरुद्धस्वभाववाले होने से जहाँ शीतलता होती है, वहाँ उष्णता नहीं होती और जहाँ उष्णता होती है, वहाँ शीतलता नहीं होती; उसीप्रकार परस्पर विरुद्धस्वभाववाले होने से जहाँ-जहाँ निर्विकल्प समाधिलक्षण भेदविज्ञान होता है, वहाँ विषय-कषायरूप व्यापार नहीं होता और जहाँ विषय-कषायरूप व्यापार होता है, वहाँ निर्विकल्प समाधिलक्षण भेदविज्ञान नहीं होता।”

तात्पर्य यह है कि मुक्ति का साक्षात् कारण तो शुद्धोपयोगरूप दशा है और शुद्धोपयोगरूप दशा में जब वह शुभोपयोग भी नहीं रहता, जिसे परम्परा से मुक्ति का कारण कहा जाता है; तो फिर अशुभोपयोग के रहने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। शुद्धोपयोग तो शुभोपयोग और अशुभोपयोग तथा शुभ प्रवृत्ति और अशुभ प्रवृत्ति हूँ इन सभी के अभाव में उत्पन्न होनेवाली स्थिति है।

इसप्रकार इन गाथाओं में भी यही कहा गया है कि भले ही लौकिक जन व्रत-शील-संयम-तप आदि शुभभाव और शुभ क्रिया को मुक्ति का कारण मानते हों; पर सभी प्रकार के बालव्रत और बालतप मुक्ति के कारण नहीं हैं; एकमात्र हूँ ज्ञान ही मुक्ति का कारण है। कहा भी है हूँ ज्ञानमात्रविहितं शिवहेतु।

यदि हमें अपने इस परिभ्रमण को रोकना है, संसारचक्र को तोड़ना है तो स्वयं के उपयोग को स्वयं में जोड़ना होगा, सम्पूर्ण जगत से नाता तोड़ना होगा और स्वयं को जानकर-पहिचानकर स्वयं में ही समा जाना होगा। हूँ यही एक मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग हैं हूँ यही भगवान की दिव्यध्वनि का सार है। हूँ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-८०

अशक्य की श्रद्धा करें

(२३)

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्धणं।
केवलजिणोहिं भणियं सद्धमाणस्स सम्मत्तं॥

(हरिगीत)

जो शक्य हो वह करें और अशक्य की श्रद्धा करें।
श्रद्धान ही सम्यक्त्व है इस भाँति सब जिनवर कहें॥

जो शक्य हो, वह करे; जो शक्य न हो, वह न करे; पर श्रद्धान तो सभी का करे; क्योंकि केवली भगवान ने श्रद्धान करने वाले को सम्यग्दर्शन होता है हूँ ऐसा कहा है।

यह गाथा अष्टपाहुड़ के दर्शनपाहुड़ नामक पाहुड़ की २२वीं गाथा है। इसमें यह बताया गया है कि अपनी भूमिकानुसार जो कार्य शक्य हो, अपने से हो सके; उसे अवश्य करे। जो कार्य अपने से न हो सके, वह कार्य भी करने योग्य है हूँ ऐसा श्रद्धान करना चाहिए; क्योंकि श्रद्धान करनेवाले को सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है हूँ ऐसा केवली भगवान ने कहा है।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन हो जाने के उपरान्त चारित्र गुण में निर्मलता का विकास क्रमशः होता है; अतः चारित्र गुण की निर्मलता का विकास भूमिकानुसार क्रमशः ही होता है; पर श्रद्धान का सम्यक्पना तो चौथे गुणस्थान में परिपूर्ण हो जाता है।

श्रद्धान की दिशा सम्यक् होने से चारित्र भले ही धीरे-धीरे हो, पर चारित्र का विकास सही दिशा में होता है।

इसीप्रकार की एक गाथा नियमसार में भी प्राप्त होती है; जो इसप्रकार है हूँ

जदि सक्कदि कादुंजे पडिक्कमणादिं करेज्ज झाणमयं।
सत्तिविहीणो जा जइ सद्धणं चव कायव्वं॥१५४॥

(हरिगीत)

यदि शक्य हो तो ध्यानमय प्रतिक्रमण करना चाहिए।

यदि नहीं हो शक्ति तो श्रद्धान ही कर्तव्य है ॥१५४॥

यदि किया जा सके तो ध्यानमय प्रतिक्रमण ही करो; यदि तू शक्ति विहीन हो तो तबतक श्रद्धान ही कर्तव्य है।

उक्त गाथा का अर्थ पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार करते हैं ह

“सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर के ही शिखामणि, परद्रव्य से परांगमुख और स्वद्रव्य में निष्णात बुद्धिवाले, पाँच इन्द्रियों के विस्तार से रहित देहमात्र परिग्रह के धारी, परमागमरूपी मकरंद झरते हुए मुख कमल से शोभायमान हे पद्मप्रभ मुनिशार्दूल ! संहनन और शक्ति का प्रादुर्भाव हो तो मुक्तिसुन्दरी के प्रथम दर्शन की भेंटस्वरूप निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रायश्चित्त, निश्चय प्रत्याख्यान आदि प्रमुख शुद्ध निश्चय क्रियाएँ ही कर्तव्य हैं।

यदि इस हीन दग्धकालरूप अकाल में तू शक्तिहीन हो तो तुझे केवल निज परमात्मतत्त्व का श्रद्धान ही कर्तव्य है।”

टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इस गाथा की टीका में स्वयं को वैराग्यरूपी महल के शिखर के शिरोमणि कह रहे हैं, देहमात्र परिग्रहधारी कह रहे हैं। साथ में यह भी कह रहे हैं कि मेरे मुख से परमागमतत्त्व का मकरंद झरता है। मैं मुनि शार्दूल हूँ, मुझे निश्चय-प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान ही करना चाहिए, पर दुष्काल के प्रभाव से संभव नहीं हो रहा। अतः मात्र श्रद्धान ही कर रहा हूँ।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह

(मंदाक्रांता)

असारे संसारे कलिविलसिते पापबहुले
न मुक्तिमार्गेऽस्मिन्नघजिननाथस्य भवति ।

45

अतोऽध्यात्मं ध्यानं कथमिह भवेन्निर्मलधियां
निजात्मश्रद्धानं भवभयहरं स्वीकृतमिदम् ॥२६४॥

(हरिगीत)

पापमय कलिकाल में जिननाथ के भी मार्ग में।

मुक्ति होती है नहीं निजध्यान संभव न लगे।

तो साधकों को सतत आत्मज्ञान करना चाहिए।

निज त्रिकाली आत्म का श्रद्धान करना चाहिए ॥२६४॥

इस असार संसार में पाप की बहुलतावाले कलिकाल के विलास में निर्दोष जिननाथ के मार्ग में भी मुक्ति नहीं है। इसलिए इस काल में आत्मध्यान कैसे हो सकता है ? तात्पर्य यह है कि ध्यान की विरलता है। शुक्लध्यान तो है ही नहीं, निश्चय धर्मध्यान भी विरल है।

तत्त्वार्थसूत्र के अन्त में जो गाथायें छपी रहती हैं, उनमें भी इसप्रकार की एक गाथा आती है, जो इसप्रकार है ह

जं सक्कइ तं कीरइ जंणसक्कइ तहेव सद्धणं।
सद्धभावो जीवो पावइ अजरामरं ठाणं ॥

जो शक्य है, वह करना चाहिए, पर जो शक्य नहीं है, उसका श्रद्धान करना चाहिए; क्योंकि श्रद्धान करनेवाला जीव अजर-अमर स्थान (मुक्ति) को प्राप्त करता है। ●

जिसके पास विवेक की ढाल है, उस पर तर्क के तीर काम नहीं करते और जिसके पास वैराग्य का बल है, उस पर आँसुओं की बौछारों का असर नहीं होता।

महापुरुषों की वृत्ति और प्रवृत्ति अत्यन्त सरल और सहज होती है। वे मनाने और मनवाने में विश्वास नहीं करते। वे नकली 'हाँ' और 'ना' नहीं करते। 'मन में हो और मूढ़ हिलावे' वाली प्रवृत्ति उनकी नहीं होती।

हृ पंचकल्याणकप्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-३६ व ३७

निश्चय-व्यवहार सम्यक्त्व

(२४)

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं॥

(हरिगीत)

जीवादि का श्रद्धान ही व्यवहार से सम्यक्त्व है।
पर नियत नय से आत्म का श्रद्धान ही सम्यक्त्व है॥

जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है और अपने आत्मा का श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है।

यह गाथा अष्टपाहुड़ के दर्शनपाहुड़ की २०वीं गाथा है। इसमें सम्यग्दर्शन का स्वरूप निश्चयनय और व्यवहारनय से समझाया गया है।

व्यवहारनय से जीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है और निश्चयनय से अपने आत्मा का श्रद्धान, प्रतीति, रुचि तथा अपने आत्मा में अपनापन निश्चय सम्यग्दर्शन है।

पराश्रित कथन को व्यवहार कहते हैं और स्वाश्रित कथन को निश्चय कहते हैं।

व्यवहार-निश्चय उक्त परिभाषा के अनुसार जीवादि पदार्थों का श्रद्धान पराश्रित कथन होने से व्यवहार है और आत्मा का श्रद्धान स्वाश्रित कथन होने से निश्चय है।

अथवा भेद से कथन व्यवहार है और अभेद कथन निश्चय है ह इस परिभाषा के अनुसार तत्त्वार्थों का श्रद्धान भेदरूप कथन है, इसलिए व्यवहार है और आत्मश्रद्धान अभेदरूप कथन होने से निश्चय है।

इसप्रकार अनेकप्रकार से निश्चय-व्यवहार सम्यग्दर्शन को जिनवाणी में समझाया है। ●

स्वद्रव्यरत श्रमण सम्यग्दृष्टि हैं

(२५)

सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठुकम्माइं॥

(हरिगीत)

नियम से निज द्रव्य में रत श्रमण सम्यकवंत हैं।
सम्यक्त्व-परिणत श्रमण ही क्षय करें करमानन्त हैं॥

जो श्रमण स्वद्रव्य में रत है, रुचिवंत है; वह नियम से सम्यक्त्व सहित है। सम्यक्त्व सहित वह श्रमण दुष्टाष्ट कर्मों का नाश करता है।

अपने आत्मा में अपनापन स्थापित कर अपने आत्मा में लीन हो जाने वाले सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा श्रमण आठ कर्मों का नाश करते हैं, सिद्धदशा को प्राप्त करते हैं।

यह गाथा अष्टपाहुड़ ग्रन्थ के मोक्षपाहुड़ अधिकार की १४वीं गाथा है। इसमें यह समझाया गया है कि स्वद्रव्यरत श्रमण नियम से सम्यग्दृष्टि है।

वस्तुतः बात यह है कि चाहे श्रमण हो या श्रावक, यदि वह स्वद्रव्य में रत है तो नियम से सम्यग्दृष्टि है; क्योंकि अपने आत्मा में अपनेपन के ज्ञान-श्रद्धानपूर्वक लीनता ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निश्चय मुक्तिमार्ग है।

निश्चय मोक्षमार्ग में स्थित श्रमण नियम से निश्चय रत्नत्रय के धारी होते हैं और वे शीघ्र ही कर्मों का नाश कर मुक्ति प्राप्त करते हैं। ●

जिनके संसार-सागर का किनारा समीप आ गया होगा, वे इतने से ही समझ जावेंगे; पर अभी जिनका संसार बहुत बाकी है, उनसे कितना ही कहो, उन पर कुछ भी असर होनेवाला नहीं है; अतः अधिक प्रलाप से क्या लाभ है।
हृ पंचकल्याणकप्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-८८

अधिक क्या कहें ?

(२६)

किं बहुणा भणिएण जे सिद्धा णरकरा गए काले ।
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं ॥

(हरिगीत)

मुक्ती गये या जायेंगे माहात्म्य है सम्यक्त्व का ।
यह जान लो हे भव्यजन! इससे अधिक अब कहें क्या ॥

अधिक कहने से क्या लाभ है, इतना समझ लो कि आज तक जो जीव सिद्ध हुए हैं और भविष्यकाल में सिद्ध होंगे, वह सब सम्यग्दर्शन का ही माहात्म्य है ।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन के बिना न तो आज तक कोई सिद्ध हुआ है और न भविष्य में होगा ।

यह गाथा भी अष्टपाहुड ग्रन्थ के मोक्षपाहुड नामक अधिकार की ८८वीं गाथा है, जिसमें सम्यग्दर्शन की महिमा गाई गई है ।

कहा गया है कि अधिक क्या कहें ? सम्यग्दर्शन का इतना माहात्म्य है कि आज तक जितने भी महान पुरुष गतकाल में मोक्ष गये हैं; वे सभी सम्यक्त्व के प्रभाव से ही गये हैं और जितने भी जीव भविष्य में मोक्ष जावेंगे; वे सभी सम्यक्त्व के माहात्म्य से ही जावेंगे ।

इसलिए सभी भव्यजीवों को चाहिए कि वे उस सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए प्रयत्न करें ।

अपने त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा की पहिचान और अपनेपन का नाम ही सम्यग्दर्शन है । यदि हम अपने उस आत्मा को जाने ही नहीं, पहिचाने ही नहीं, हमारा उसमें अपनापन ही न हो तो हम उसका ध्यान कैसे करेंगे ? ध्यान की अवस्था का नाम ही शुद्धोपयोग है ।

जब शुद्धोपयोग नहीं होगा तो मुक्ति की प्राप्ति कैसे होगी ? ●

वे धन्य हैं

(२७)

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया ।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं ॥

(हरिगीत)

वे धन्य हैं सुकृतार्थ हैं, वे शूर नर पण्डित वही ।
दुःस्वप्न में सम्यक्त्व को जिनने मलीन किया नहीं ॥

जिन जीवों ने मुक्ति प्राप्त कराने वाले सम्यग्दर्शन को स्वप्न में भी मलिन नहीं किया; वे ही धन्य हैं, कृतार्थ हैं, शूरवीर हैं, पण्डित हैं, मनुष्य हैं । तात्पर्य यह है कि सभी गुण सम्यग्दर्शन से ही शोभा पाते हैं ।

अतः हमें निर्मल सम्यग्दर्शन धारण करना चाहिए । स्वप्न में भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए, जिससे सम्यग्दर्शन में मलिनता उत्पन्न हो ।

यह गाथा भी अष्टपाहुड शास्त्र के मोक्षपाहुड अधिकार की ८९वीं गाथा है । इसमें कहा गया है कि उन शूरवीर मानवों को धन्य है, वे पंडितजन ही कृतार्थ हैं, भले हैं; जिन ज्ञानी धर्मात्मा पण्डितजनों ने अपने सम्यग्दर्शन को एक क्षण के लिए भी मलिन नहीं किया है ।

तात्पर्य यह है कि इस जगत के सम्पूर्ण गुण एकमात्र सम्यक्त्व गुण का ही आश्रय करते हैं ।

जिन जीवों ने निर्मल सम्यग्दर्शन को धारण किया है; वे महान हैं, भाग्यवान हैं, शूरवीर हैं, पण्डित हैं, धन्य हैं, कृतार्थ हैं । वे क्या नहीं हैं, वे सब कुछ हैं ।

सम्यक्त्व में होनेवाली मलिनता है, महादुर्भाग्य है और निर्मलता महान सौभाग्य है । ●

भाई ! एक बात यह भी तो है कि यदि हिंसा एक बार किसी के मन में उत्पन्न हो गई तो फिर वह कहीं न कहीं प्रगट अवश्य होगी । हू गागर में सागर, पृष्ठ-७९

भूतार्थनय से जाने गये तत्त्वार्थ

(२८)

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्यपावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥

(हरिगीत)

चिदचिदास्रव पाप-पुण्य शिव बंध संवर निर्जरा ।
तत्त्वार्थ ये भूतार्थ से जाने हुए सम्यक्त्व हैं ॥

भूतार्थ (निश्चय) नय से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष हूँ ये नव तत्त्व ही सम्यग्दर्शन हैं । तात्पर्य यह है कि मात्र व्यवहार से तत्त्वों का स्वरूप जान लेना पर्याप्त नहीं है, नव तत्त्वों का वास्तविक स्वरूप निश्चयनय से जानना चाहिए ।

यह गाथा समयसार परमाणु की १३वीं गाथा है । इसमें एक बार फिर से भूतार्थनय से सम्यग्दर्शन को परिभाषित किया गया है ।

इस गाथा में सम्यग्दर्शन का स्वरूप तो बताया ही गया है, प्रकारान्तर से समयसार में आगे आनेवाली विषयवस्तु का संकेत भी कर दिया है, आगे के अधिकारों के नामोल्लेख भी कर दिये हैं ।

कर्ता-कर्म अधिकार एवं सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार को छोड़कर अन्य सभी अधिकारों के नाम भी आ ही गये हैं, अधिकारों का क्रम भी आ गया है । इस गाथा में तत्त्वों के नाम जिस क्रम से आये हैं, वही क्रम अधिकारों का है । इससे स्पष्ट है कि इस गाथा में तत्त्वों के नामों का जो क्रम है, वह छन्दानुरोध से नहीं, अपितु बुद्धिपूर्वक रखा गया है ।

यह क्रम तत्त्वार्थसूत्र के क्रम से कुछ हटकर है । तत्त्वार्थसूत्र के सूत्र में भी जो क्रम है, वही क्रम उसके प्रतिपादन में भी है, अधिकारों में भी है । अतः वहाँ भी यह क्रम बुद्धिपूर्वक ही रखा गया है । उसके औचित्य

पर भी उसके टीकाकारों ने प्रकाश डाला है । तत्त्वार्थसूत्र गद्य में होने से छन्दानुरोधवाला तर्क भी नहीं दिया जा सकता ।

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति टीका को नाटक के रूप में प्रस्तुत करते हैं । नाटक में रंगमंच पर पात्र जोड़े से आते हैं; इसलिए उसमें भी विषयवस्तु को जोड़ों के माध्यम से आगे बढ़ाया गया है । इसलिए, जीव-अजीव, आस्रव-संवर, बंध-मोक्ष हूँ ऐसे जोड़े बनाये गये हैं । इस बात को इसी गाथा के अनुशीलन में विस्तार से समझाया है ।

तत्त्वार्थसूत्र का कथन सैद्धान्तिक कथन है और समयसार का कथन आध्यात्मिक कथन है । तत्त्वार्थसूत्रकर्ता को सप्त तत्त्वार्थों का प्रमाण और नयों से गुण-पर्याय सहित, सर्वांग विवेचन अभीष्ट था, जैसा कि उन्होंने आगे किया भी है । जीवों के संसारी-सिद्ध सभी भेद बताये, उनके रहने के स्थानों की चर्चा की । अजीवादि तत्त्वों का भी इसीप्रकार विस्तृत विवेचन किया । आस्रव में सत्तावन प्रकार के आस्रव बताये, उनके शुभाशुभभेद करके व्रतों का वर्णन भी किया । बंधतत्त्व में कर्मों की प्रकृतियाँ गिनाई, निर्जरा में भी उसके उपायों की विस्तृत समीक्षा की; पर समयसार में यह सब नहीं है ।

समयसार की प्रतिपादनशैली ही अलग है । समयसार में तो सभी तत्त्वों में प्रकाशमान आत्मज्योति को ही खोजा गया है ।

सर्वत्र आत्मज्योति को खोजना भूतार्थनय का ही कार्य है । भूतार्थनय ही यह महान कार्य कर सकता है । अतः समयसार के आरंभ में ही, इस तेरहवीं गाथा में ही यह घोषित कर दिया कि भूतार्थनय से जाने हुए जीवादि नवतत्त्व ही सम्यग्दर्शन है और आगे सभी तत्त्वों की मीमांसा भी इसी नय से प्रस्तुत की है, सर्वत्र आत्मज्योति को ही खोजा गया है ।

रही बात तत्त्वों की संख्या में सात और नौ के अन्तर की, सो यह कोई खास बात नहीं है, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में पुण्य और पाप को आस्रव-बंध में शामिल कर लिया गया है और समयसार में उन्हें अलग कर दिया गया है । बस इतनी ही बात है । ●

भूतार्थ और अभूतार्थ

(२९)

ववहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥

(हरिगीत)

शुद्धनय भूतार्थ है अभूतार्थ है व्यवहारनय ।
भूतार्थ की ही शरण गह यह आतमा सम्यक् लहे ॥

व्यवहारनय अभूतार्थ (असत्यार्थ) है और शुद्धनय (निश्चयनय) भूतार्थ (सत्यार्थ) है । जो जीव भूतार्थ अर्थात् शुद्ध निश्चयनय के विषयभूत निज भगवान आत्मा का आश्रय लेता है, वह जीव नियम से सम्यग्दृष्टि होता है ।

यह गाथा समयसार परमागम की ११वीं गाथा है ।

एक तो इसमें व्यवहारनय को अभूतार्थ-असत्यार्थ कहा गया है और दूसरे शुद्धनय को भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ कहा गया है तथा उसी भूतार्थ शुद्धनय के माध्यम से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की बात कही गई है ।

उक्त गाथा का भाव स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में लिखते हैं

“सब ही व्यवहारनय अभूतार्थ होने से अभूत (अविद्यमान-असत्य) अर्थ को प्रगट करते हैं । एक शुद्धनय ही भूतार्थ होने से भूत (विद्यमान-सत्य) अर्थ को प्रगट करता है ।

अब इसी बात को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं । यद्यपि प्रबल कीचड़ के मिलने से आच्छादित है निर्मलस्वभाव जिसका, ऐसे समल जल का अनुभव करनेवाले एवं जल और कीचड़ के विवेक से रहित अधिकांश लोग तो उस जल को मलिन ही अनुभव करते हैं ।

वे यह नहीं समझ पाते कि स्वभाव से तो जल निर्मल ही है, मलिनता तो मात्र संयोग में है । इसकारण वे जल को ही मलिन मान लेते हैं; तथापि कुछ लोग अपने हाथ से डाले हुए कतकफल के पड़ने मात्र से उत्पन्न जल-कीचड़ के विवेक से, अपने पुरुषार्थ से प्रगट किये हुए निर्मलस्वभाव से उस जल को निर्मल ही अनुभव करते हैं ।

तात्पर्य यह है कि अधिकांश लोग तो पंकमिश्रित जल को स्वभाव से मैला मानकर वैसा ही पी लेते हैं और अनेक रोगों से आक्रान्त हो दुःखी होते हैं; किन्तु कुछ समझदार लोग अपने विवेक से इस बात को समझ लेते हैं कि जल मैला नहीं है, इस मैले जल में जल जुदा है और मैल जुदा है तथा कतकफल के जरिये जल और मैल को जुदा-जुदा किया जा सकता है ।

अतः वे स्वयं के हाथ से कतकफल डालकर मैले जल को इतना निर्मल बना लेते हैं कि उसमें अपना पुरुषाकार भी स्पष्ट दिखाई देने लगता है और उस जल को पीकर नीरोग रहते हैं, आरोग्यता का आनन्द लेते हैं ।

इसीप्रकार प्रबल कर्मोदय के संयोग से सहज एक ज्ञायकभाव तिरोभूत (आच्छादित) हो गया है जिसका, ऐसे आत्मा का अनुभव करनेवाले एवं आत्मा और कर्म के विवेक से रहित, व्यवहारविमोहित चित्तवाले अधिकांश लोग तो आत्मा को अनेकभावरूप अशुद्ध ही अनुभव करते हैं; तथापि भूतार्थदर्शी लोग अपनी बुद्धि से प्रयुक्त शुद्धनय के प्रयोग से उत्पन्न आत्मा और कर्म के विवेक से अपने पुरुषार्थ द्वारा प्रगट किये गये सहज एक ज्ञायकभाव को शुद्ध ही अनुभव करते हैं, एक ज्ञायकभावरूप ही अनुभव करते हैं; अनेकभावरूप अनुभव नहीं करते ।

यहाँ शुद्धनय कतकफल के स्थान पर है; इसलिए जो शुद्धनय का आश्रय लेते हैं, वे ही सम्यक् अवलोकन करते हुए सम्यग्दृष्टि होते हैं; अन्य नहीं । इसलिए कर्मों से भिन्न आत्मा को देखनेवालों को व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है ।”

यह गाथा अत्यन्त गंभीर है, इसमें जिनागम का सार तो भरा ही है, जिनागम को समझने की विधि भी बता दी गई है। इस गाथा के मर्म को समझने के लिए अत्यधिक सावधानी अपेक्षित है; क्योंकि जरा सी चूक हो जाने पर बहुत बड़ी हानि हो सकती है।

यह गाथा और इसकी टीका के पढ़ने से एक बात एकदम स्पष्ट होती है कि सभी प्रकार के व्यवहारनय अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं और एकमात्र शुद्धनय ही भूतार्थ है, सत्यार्थ है।

अध्यात्मनय दो प्रकार के होते हैं ह १. व्यवहारनय और २. निश्चयनय।

व्यवहारनय भी दो प्रकार का होता है ह १. असद्भूतव्यवहारनय और २. सद्भूतव्यवहारनय।

ये असद्भूत और सद्भूत व्यवहारनय भी उपचरित और अनुपचरित के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। इसप्रकार कुल मिलाकर व्यवहारनय चार प्रकार का हो गया ह

१. उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय
 २. अनुपचरितहअसद्भूतव्यवहारनय
 ३. उपचरितहसद्भूतव्यवहारनय
 ४. अनुपचरितहसद्भूतव्यवहारनय
- निश्चयनय भी दो प्रकार का होता है ह

१. अशुद्धनिश्चयनय और
२. शुद्धनिश्चयनय।

शुद्धनिश्चय तीनप्रकार का होता है ह

१. एकदेशशुद्धनिश्चयनय
२. शुद्धनिश्चयनय या साक्षात्शुद्धनिश्चयनय और
३. परमशुद्धनिश्चयनय।

इसप्रकार कुल मिलाकर निश्चयनय भी चार प्रकार का हो गया।

ये चार प्रकार के व्यवहार और चार प्रकार के निश्चय ह कुल मिलाकर आठ नय अध्यात्मनय कहे जाते हैं।

जो नय संयोग का ज्ञान कराये, उसे असद्भूतव्यवहारनय कहते हैं। शरीर, स्त्री-पुत्रादि, मकानादि को अपना कहना, आत्मा को उनका कर्ता-भोक्ता-ज्ञाता कहना इसी नय का काम है।

स्त्री-पुत्रादि, मकानादि तथा ग्राम-नगरादि दूरस्थ परपदार्थों को अपना कहना, आत्मा को उनका कर्ता-भोक्ता-ज्ञाता कहना उपचरित असद्भूतव्यवहारनय है और आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप से रहनेवाले शरीर को अथवा आत्मा और शरीर से मिले हुए रूप को आत्मा कहना, आत्मा का कहना, आत्मा को उसका कर्ता-भोक्ता-ज्ञाता कहना अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है।

अभेद-अखण्ड आत्मा को गुणों और पर्यायों के भेद करके समझना, समझाना, कहना, सद्भूतव्यवहारनय का कार्य है।

अल्पविकसित एवं विकारी पर्यायों को आत्मा का कहना, उनका कर्ता-भोक्ता-ज्ञाता आत्मा को कहना उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय का कथन है और अभेद आत्मा में ज्ञान-दर्शन-चारित्र के भेद करना तथा पूर्ण विकसित निर्मल पर्यायों को आत्मा का कहना, उनका कर्ता-भोक्ता-ज्ञाता आत्मा को कहना अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय का कार्य है।

रागादि विकारी भावों से आत्मा को अभेद बताना अशुद्धनिश्चयनय है। आत्मा को मिथ्यादृष्टि कहना इसी नय का काम है।

एकदेशशुद्धपर्याय से आत्मा को अभेद बताना एकदेशशुद्धनिश्चय नय है। आत्मा को सम्यग्दृष्टि, देशसंयमी कहना इसी नय का कथन है।

पूर्णशुद्धपर्याय से आत्मा को अभेद बताना शुद्धनिश्चयनय या साक्षात्शुद्धनिश्चयनय है। आत्मा को केवलज्ञानी कहना, सिद्ध कहना इसी नय का कथन है।

आत्मा को सम्पूर्ण शुद्धाशुद्धपर्यायों से रहित, गुणभेद से भिन्न, अभेद-अखण्ड-नित्य जानना-कहना परमशुद्धनिश्चयनय है।

त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकभाव इसी परमशुद्धनिश्चयनय का विषय है।

परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत यह ज्ञायकभाव ही दृष्टि का विषय है और इसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है।

इस गाथा में जो शुद्धनय शब्द का प्रयोग है, वह परमशुद्धनिश्चयनय के अर्थ में ही है। यहाँ एकमात्र उसे ही भूतार्थ कहा गया है, शेष निश्चयनय भी परमशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार ही हो जाते हैं; अतः किसी अपेक्षा वे भी अभूतार्थ हो जाते हैं; परन्तु परमशुद्धनिश्चयनय सदा ही भूतार्थ रहता है।

गाथा में स्पष्टरूप से कहा गया है कि जो जीव भूतार्थ का आश्रय करता है, वह जीव सम्यग्दृष्टि होता है। अतः यह सुनिश्चित ही है कि जिस नय की विषयभूत वस्तु में अपनापन स्थापित करने से सम्यग्दर्शन होता है, वही नय भूतार्थ है, सत्यार्थ है।

उक्त आठ नयों में एक परमशुद्धनिश्चयनय ही ऐसा है, जिसके विषयभूत आत्मद्रव्य में अपनापन स्थापित होने से सम्यग्दर्शन होता है।

अतः वह ही वास्तविक शुद्धनय है और वही भूतार्थ है; शेष सभी नय अभूतार्थ हैं। ●

प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय का कर्ता स्वयं है। परिणमन उसका धर्म है। अपने परिणमन में उसे परद्रव्य की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है। नित्यता की भाँति परिणमन भी उसका सहज स्वभाव है अथवा पर्याय की कर्ता स्वयं पर्याय है। उसमें तुझे कुछ भी नहीं करना है अर्थात् कुछ भी करने की चिन्ता नहीं करना है। अजीवद्रव्य पर में तो कुछ करते ही नहीं, अपनी पर्यायों को करने की भी चिन्ता नहीं करते, तो क्या उनका परिणमन अवरुद्ध हो जाता है? नहीं, तो फिर जीव भी क्यों परिणमन की चिन्ता में व्यर्थ ही आकुल-व्याकुल हो ?

ह्र क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ-२८

व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है

(३०)

जह ण वि सक्कमणज्जोअणज्जभासंविणा दुगाहेदुं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥

(हरिगीत)

अनार्य भाषा के बिना समझा सके न अनार्य को।

बस त्योंहि समझा सके ना व्यवहार बिन परमार्थ को ॥

जिसप्रकार अनार्य (म्लेच्छ) जनों को अनार्य भाषा के बिना कोई भी बात समझाना शक्य नहीं है, उसीप्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है। तात्पर्य यह है कि अभूतार्थ होने पर भी निश्चय का प्रतिपादक होने के कारण व्यवहार को जिनवाणी में स्थान प्राप्त है।

यह गाथा समयसार परमागम की ८वीं गाथा है। इसमें सोदाहरण यह समझाया गया है कि व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है।

उक्त गाथा का भाव स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने जो टीका लिखी है, उसका भाव इसप्रकार है ह

“स्वस्ति शब्द से अपरिचित किसी म्लेच्छ (अनपढ़) को यदि कोई ब्राह्मण (पढ़ा-लिखा व्यक्ति) ‘स्वस्ति’ ऐसा कहकर आशीर्वाद दे, तो वह म्लेच्छ उसकी ओर मेंढे की भाँति आँखें फाड़-फाड़कर, टकटकी लगाकर देखता ही रहता है; क्योंकि वह ‘स्वस्ति’ शब्द के वाच्य-वाचक सम्बन्ध से पूर्णतः अपरिचित होता है।

जब दोनों की भाषा को जाननेवाला कोई अन्य व्यक्ति या वही ब्राह्मण म्लेच्छ भाषा में उसे समझाता है कि स्वस्ति शब्द का अर्थ यह है कि तुम्हारा अविनाशी कल्याण हो; तब उसका भाव समझ में आ जाने से तत्काल ही उसका चित्त आनन्दित हो जाता है, उसकी आँखों में आनन्द के अश्रु आ जाते हैं।

इसीप्रकार आत्मा शब्द से अपरिचित लौकिकजनों को जब कोई ज्ञानी धर्मात्मा आचार्यदेव 'आत्मा' शब्द से सम्बोधित करते हैं तो वे भी आँखें फाड़-फाड़कर ह्व टकटकी लगाकर देखते ही रहते हैं; क्योंकि वे आत्मा शब्द के वाच्य-वाचक सम्बन्ध से पूर्णतः अपरिचित होते हैं।

जब सारथी की भाँति व्यवहार-परमार्थ मार्ग पर सम्यग्ज्ञानरूपी महारथ को चलानेवाले अन्य आचार्यदेव या वही आचार्य स्वयं ही व्यवहारमार्ग में रहते हुए आत्मा शब्द का अर्थ इसप्रकार बतलाते हैं कि **जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हो, वह आत्मा है;** तब वे लौकिकजन भी आत्मा शब्द के अर्थ को भलीभाँति समझ लेते हैं और तत्काल ही उत्पन्न होनेवाले अतीव आनन्द से उनके हृदय में सुंदर बोधतरंगें उछलने लगती हैं।

इसप्रकार जगत म्लेच्छ के तथा व्यवहारनय म्लेच्छ भाषा के स्थान पर होने से व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक है और इसीलिए व्यवहारनय स्थापित करने योग्य भी है; तथापि 'ब्राह्मण को म्लेच्छ तो नहीं बन जाना चाहिए' **ह्व इस वचन से व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है।'**

'यदि व्यवहारनय हेय है तो उसका प्रतिपादन ही क्यों किया?'

ह्व शिष्य के इस प्रश्न के उत्तर में म्लेच्छ और म्लेच्छ भाषा का उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है कि जिसप्रकार म्लेच्छ भाषा के बिना म्लेच्छ को समझाना संभव नहीं है, उसीप्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ को समझाना संभव नहीं है। अतः **व्यवहार को परमार्थ का प्रतिपादक जानकर उसका उपदेश दिया गया है।**

गाथा में तो इतनी ही बात कही गई है, पर टीका में गाथा के भाव को खोलते हुए सावधान भी कर दिया गया है कि म्लेच्छ को समझाने के लिए म्लेच्छ भाषा के उपयोग को तो उचित माना जा सकता है, पर म्लेच्छ हो जाना कदापि ठीक नहीं है। म्लेच्छ से म्लेच्छ भाषा में बात कर लेना अलग बात है और स्वयं म्लेच्छ हो जाना एकदम अलग बात है। इन दोनों के अन्तर को गहराई से पहिचानना चाहिए।

इसीप्रकार व्यवहारीजनों को व्यवहारनय से समझा देना अलग बात है और स्वयं व्यवहारी हो जाना एकदम अलग बात है। व्यवहारनय से परमार्थ को समझाने की बात को तो उचित माना जा सकता है, पर व्यवहार को उपादेय मानना कदापि ठीक नहीं है। **व्यवहार को उपादेय मानना तो व्यवहारी हो जाना है, म्लेच्छ हो जाने जैसा है।**

इस गाथा की टीका का गहराई से अध्ययन करने पर एक बात ध्यान में आती है कि प्रकारान्तर से इसमें सम्यग्दर्शन के पूर्व होनेवाली पाँच लब्धियों का संकेत भी है।

गुरु के मुख से 'आत्मा' शब्द सुननेवाले शिष्य को सैनीपंचेन्द्रिय होने से **क्षयोपशमलब्धि** तो है ही; परन्तु कुछ भी समझ में न आने पर भी क्रोधित नहीं होना, अरुचि प्रदर्शित नहीं करना और टकटकी लगाकर देखते ही रहना **विशुद्धिलब्धि** को सूचित करता है; क्योंकि कषाय की मंदता के बिना ऐसी प्रवृत्ति संभव नहीं है।

आचार्यदेव द्वारा व्यवहारमार्ग से आत्मा का स्वरूप समझाना कि 'जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र को प्राप्त हो, वह आत्मा है' **ह्व यह देशनालब्धि** है। प्रसन्नचित्त से इस देशना को सुनना, समझने में चित्त लगाना **प्रायोग्यलब्धि** को सूचित करता है और गुरुवचन का मर्म ख्याल में आते ही बोधतरंगों का उछलना और आनन्दाश्रुओं का आना **करणलब्धि** का सूचक है।

तात्पर्य यह है कि भले ही कोई जीव आत्मा के बारे में कुछ भी न जानता हो; पर उसमें पात्रता हो, अपने आत्मा को समझने योग्य बुद्धि का विकास हो, कषायें मंद हों, आत्मा की तीव्र रुचि हो, आत्मज्ञानी गुरु के प्रति बहुमान का भाव हो, आस्था हो, यथायोग्य विनय हो, उनसे आत्मा का स्वरूप समझने की धगस हो, गहरी जिज्ञासा हो, पूरा-पूरा प्रयास हो तो योग्य गुरु के द्वारा करुणापूर्वक व्यवहारमार्ग से समझाये जाने पर आत्मा की बात उसकी समझ में अवश्य आती है और **यदि पुरुषार्थ की उग्रता हो तो आत्मानुभव भी होता ही है।**

इसप्रकार इस गाथा में पाँचों लब्धियों को प्राप्त कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विधि का भी परिज्ञान करा दिया गया है। पात्र शिष्य और निश्चय-व्यवहारज्ञ आत्मज्ञानी गुरु का स्वरूप भी स्पष्ट कर दिया गया है। व्यवहारनय की उपयोगिता बताकर जिनवाणी में उसके प्रयोग का औचित्य भी स्पष्ट कर दिया है और अन्त में व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है ह्व यह भी बता दिया है। प्रकारान्तर से आत्मानुभव की प्रेरणा भी दी गई है।

अतः हम सभी का परम कर्तव्य है कि निज भगवान आत्मा की बात रुचिपूर्वक सुनें, गहराई से समझें; उस पर गंभीरता से विचार करें और भगवान आत्मा की प्राप्ति के लिए उग्र पुरुषार्थ करें; क्योंकि मानव जीवन की सफलता आत्मानुभव करने में ही है। ●

जीव और शरीर सर्वप्रकार से भिन्न-भिन्न होकर भी एकत्रित हो गये हैं। उनके एकत्रित हो जाने से वे एक नहीं हो जाते, भिन्न-भिन्न ही रहते हैं। जिसप्रकार एकत्रित व्यक्तियों के समूह को मेला कहा जाता है, पर वस्तुतः उन समूहगत व्यक्तियों में प्रत्येक का व्यक्तित्व रंचमात्र भी विलीन नहीं होता, खण्डित नहीं होता; स्वतंत्ररूप से अखण्डित बना रहता है; क्योंकि अमिल-मिलाप स्वभाववाले व्यक्ति वस्तुतः कभी मिल ही नहीं सकते हैं। मेला तो मेला है, उसमें एकता संभव नहीं है; मेले में एकता खोजना मेले का मेलापन खो देना है।

उसीप्रकार एकत्रित देह और आत्मा को व्यवहार जीव कहा जाता है, पर वस्तुतः देह और आत्मा कभी भी एक नहीं होते, परस्पर विलीन नहीं होते; उनका स्वरूप खण्डित नहीं होता, स्वतंत्र रूप से अखण्डित ही बना रहता है; क्योंकि अमिल-मिलापवाले जड़ और चेतन पदार्थ कभी मिल ही नहीं सकते हैं। जीव और शरीर का भी मेला तो मेला ही है, उनमें एकता खोजना दोनों के स्वरूप को खण्डित कर देना है।

ह्व बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ-७९

निश्चय और व्यवहार

(३९)

व्यवहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को ।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदा वि एक्कट्ठो ॥

(हरिगीत)

देह-चेतन एक हैं ह्व यह वचन है व्यवहार का ।
ये एक हो सकते नहीं ह्व यह कथन है परमार्थ का ॥

व्यवहारनय तो यह कहता है कि जीव और शरीर एक ही है, किन्तु निश्चयनय के अभिप्राय से जीव और शरीर कदापि एक नहीं हो सकते हैं, वे भिन्न-भिन्न ही हैं। यह असद्भूत-व्यवहारनय का प्रतिपादन है, जिसका निषेध निश्चयनय कर रहा है।

यह गाथा समयसार परमागम की २७वीं गाथा है। इसमें व्यवहारनय और निश्चयनय के माध्यम से जीव और शरीर का एकत्व और अनेकत्व समझाया गया है।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्व

“जिसप्रकार लोक में सोने और चाँदी को गलाकर एक कर देने से एक पिण्ड का व्यवहार होता है; उसीप्रकार आत्मा और शरीर की एक क्षेत्र में एक साथ रहने की अवस्था होने से एकपने का व्यवहार होता है।

इसप्रकार मात्र व्यवहार से ही आत्मा और शरीर का एकपना है, परन्तु निश्चय से एकपना नहीं है; क्योंकि निश्चय से तो पीले स्वभाववाला सोना और सफेद स्वभाववाली चाँदी के परस्पर अत्यन्त भिन्नता होने से उनमें एक पदार्थपने की असिद्धि ही है; अतः उनमें अनेकत्व ही है।

इसीप्रकार उपयोगस्वभावी आत्मा और अनुपयोगस्वभावी शरीर में अत्यन्त भिन्नता होने से एकपदार्थपने की असिद्धि ही है; अतः अनेकत्व ही है ह्व ऐसा यह प्रगट नयविभाग है; अतः यह सुनिश्चित ही है कि व्यवहारनय से ही शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन होता है, निश्चयनय से नहीं।”

इसीप्रकार व्यवहारनय से जीव और शरीर एक हैं; पर निश्चयनय से जीव और शरीर एक नहीं हो सकते।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग परमार्थ के आश्रय से ही प्रगट होता है। इसलिए प्रत्येक आत्मार्थी को एकमात्र परमार्थ का ही आश्रय लेना चाहिए। ●

त्याग खोटी चीज का किया जाता है और दान अच्छी चीज का दिया जाता है। यही कहा जाता है कि क्रोध छोड़ो, मान छोड़ो, लोभ छोड़ो। यह कोई नहीं कहता कि ज्ञान छोड़ो। जो दुःखस्वरूप हैं, दुःखकर हैं, आत्मा का अहित करनेवाले हैं ह्व वे मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभाव ही हेय हैं, त्यागने योग्य हैं, इनका ही त्याग किया जाता है। इनके साथ ही इनके आश्रयभूत अर्थात् जिनके लक्ष्य से मोह-राग-द्वेष भाव होते हैं ह्व ऐसे पुत्रादि चेतन एवं धन-मकानादि अचेतन पदार्थों का भी त्याग होता है। पर मुख्य बात मोह-राग-द्वेष के त्याग की ही है, क्योंकि मोह-राग-द्वेष के त्याग से इनका त्याग नियम से हो जाता है; किन्तु इनके त्याग देने पर भी यह गारंटी नहीं कि मोह-राग-द्वेष छूट ही जावेंगे।

ह्व धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ-१२२

अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय

(३२)

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्तं दंसणं णाणं ।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥

(हरिगीत)

दृग ज्ञान चरित जीव के हैं ह्व यह कहा व्यवहार से ।
ना ज्ञान दर्शन चरण ज्ञायक शुद्ध हैं परमार्थ से ॥

व्यवहारनय से कहा जाता है कि ज्ञानी के ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है; किन्तु निश्चय से ज्ञानी के न ज्ञान है, न दर्शन है और न चारित्र है; ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है।

यह समयसार परमागम की ७वीं गाथा है। इसमें कहा गया कथन सद्भूतव्यवहारनय का कथन है, यहाँ उसका निषेध निश्चयनय कर रहा है।

‘आत्मा में ज्ञान-दर्शन-चारित्र गुण नहीं है’ ह्व यह बात नहीं है; क्योंकि आत्मा तो ज्ञानादि अनन्तगुणों का अखण्डपिण्ड ही है और ज्ञानादि गुणों के अखण्डपिण्डरूप आत्मा को ही ज्ञायकभाव कहते हैं।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्व

“इस ज्ञायकभाव के बंधपर्याय के निमित्त से अशुद्धता होती है ह्व यह बात तो दूर ही रहो, इसके तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी नहीं हैं; क्योंकि अनन्त धर्मोवाले एक धर्मी में जो निष्णात नहीं हैं ह्व ऐसे निकटवर्ती शिष्यों को, धर्मी को बतानेवाले कितने ही धर्मों के द्वारा उपदेश करते हुए आचार्यों का; यद्यपि धर्म और धर्मी का स्वभाव से अभेद है, तथापि नाम से भेद करके, व्यवहारमात्र से ही ऐसा उपदेश है कि ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है; किन्तु परमार्थ से देखा जाये तो अनन्त पर्यायों को एक द्रव्य पी गया होने से, जो एक है ह्व ऐसे कुछ मिले हुए आस्वादवाले,

अभेद, एकस्वभावी तत्त्व का अनुभव करनेवाले को दर्शन भी नहीं है, ज्ञान भी नहीं है और चारित्र भी नहीं है; एक शुद्ध ज्ञायक ही है।”

यद्यपि आत्मा तो अनन्त गुणों का अधिष्ठाता एक धर्मी है, सहभावी पर्याय है नाम जिसका, ऐसे अनन्त गुणों का अखण्डपिण्ड है; क्योंकि धर्म और धर्मी में, गुण और गुणी में स्वभाव से भी अभेद होता है; तथापि जो लोग उस अभेद, अखण्ड धर्मी आत्मा को समझते नहीं हैं; उन्हें समझाने के लिए आचार्यदेव धर्मों और गुणों के भेद करके समझाते हैं; पर धर्मों के माध्यम से समझाते तो एक धर्मी को ही हैं, गुणों के माध्यम से भी समझाते तो एक गुणी को ही हैं। समझाने की इस प्रक्रिया का नाम ही व्यवहार है; पर जब अभेद-अखण्ड आत्मा का अनुभव करते हैं तो एकमात्र शुद्ध ज्ञायकभाव ही अनुभव में आता है, ज्ञान-दर्शन-चारित्र का भेद दिखाई नहीं देता। तात्पर्य यह है कि अनुभव में ज्ञान-दर्शन-चारित्र भिन्न-भिन्न दिखाई नहीं देते, एक त्रिकालीध्रुव नित्य, अभेद, अखण्ड भगवान आत्मा ही दिखाई देता है।

अनुभव में जो एक अभेद अखण्ड नित्य ज्ञायकभाव दिखाई देता है, वही दृष्टि का विषय है, उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, उसी में अपनापन स्थापित होने का नाम सम्यग्दर्शन है, एकमात्र वही ध्यान का ध्येय है; अधिक क्या कहें ह मुक्ति के मार्ग का मूल आधार वही ज्ञायकभावरूप भगवान आत्मा है।

‘वह भगवान आत्मा अन्य कोई नहीं, स्वयं मैं ही हूँ’ ह ऐसी दृढ़ आस्था, स्वानुभवपूर्वक दृढ़प्रतीति, तीव्ररुचि ही वास्तविक धर्म है, सच्चा मुक्ति का मार्ग है। इस ज्ञायकभाव में अपनापन स्थापित करना ही आत्मार्थी मुमुक्षु भाइयों का एकमात्र कर्तव्य है।

परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत, व्यवहारातीत, परमशुद्ध, निज निरंजन नाथ ज्ञायकभाव का स्वरूप स्पष्ट करना ही समयसार का मूल प्रतिपाद्य है और इसी शुद्ध ज्ञायकभाव का स्वरूप इन छठवीं-सातवीं गाथाओं में बताया गया है। अतः ये गाथाएँ समयसार की आधारभूत गाथाएँ हैं। ●

जो व्यवहार में सोता है, वह...

(३३)

**जो सुतो व्यवहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि व्यवहारे सो सुतो अप्पणो कज्जे ॥**

(हरिगीत)

जो सो रहा व्यवहार में वह जागता निज कार्य में।

जो जागता व्यवहार में वह सो रहा निज कार्य में॥

जो योगी व्यवहार में सोता है, वह अपने स्वरूप की साधना के काम में जागता है और जो व्यवहार में जागता है, वह अपने स्वरूप साधना के काम में सोता है।

स्वरूप की साधना ही निश्चय से आत्मा का कार्य है। अतः साधुजन व्यर्थ के व्यवहार में न उलझ कर एकमात्र अपने आत्मा की साधना करते हैं।

यह गाथा अष्टपाहुड के मोक्षपाहुड नामक पाहुड में ३१वीं गाथा है। इस गाथा में योगियों से कहा गया है कि जो योगी योगियों के योग्य व्यावहारिक कार्यों में, क्रियाकाण्डों में जागृत रहता है, उलझा रहता है; वह योगी अपने कार्य में, आत्मकल्याण के कार्य में सोता रहता है।

तात्पर्य यह है कि मुनि भूमिका के अयोग्य कार्यों की बात तो बहुत दूर, परन्तु मुनि भूमिका के योग्य व्यवहार में भी उलझनेवाले सन्त भी संसार सागर में ही भटकते रहते हैं।

अतः संतों का कर्तव्य है कि वे आत्मज्ञान और आत्मध्यान में लगे।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि जगत के प्रपंचों में उलझे रहनेवाले वेषधारियों की तो क्या बात करें; मुनि भूमिका के योग्य आत्मकल्याण संबंधी शुभभावों में भी, शुभ क्रियाओं में भी उलझे रहनेवाले मुनिराज भी आत्मकल्याण के कार्य में सोते ही रहते हैं।

आत्मा के कार्य में जागृत तो वे ही रहते हैं; जो शुभाशुभभावों और शुभाशुभ क्रियाओं में पूरी तरह विरक्त रहते हैं, उदासीन रहते हैं। ●

व्यवहारनय निषेध करने योग्य है

(३४)

एवं व्यवहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणएण ।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥

(हरिगीत)

इस ही तरह परमार्थ से कर नास्ति इस व्यवहार की ।
निश्चयनयाश्रित श्रमणजन प्राप्ति करें निर्वाण की ॥

इसप्रकार निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय को निषिद्ध (निषेध कर दिया गया) जानो, क्योंकि निश्चयनय का आश्रय लेनेवाले मुनिराज ही निर्वाण को प्राप्त होते हैं ।

व्यवहारनय, निश्चयनय का प्रतिपादक होता है और निश्चयनय, व्यवहारनय का निषेधक है इन दोनों नयों में ऐसा ही संबंध है ।

यह गाथा समयसार की २७२वीं गाथा है । इसमें यह बताया गया है कि व्यवहारनय, निश्चयनय के द्वारा निषिद्ध जानो ।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है

“आत्माश्रित निश्चयनय है और पराश्रित व्यवहारनय । बंध का कारण होने से पराश्रित समस्त अध्यवसानों को मुमुक्षुओं के लिए निषेध करते हुए आचार्यदेव ने पराश्रितता की समानता होने से निश्चयनय से एकप्रकार से समस्त व्यवहार का ही निषेध कर दिया है ।

इसप्रकार यह व्यवहारनय निषेध करने योग्य ही है; क्योंकि मुक्ति तो आत्माश्रित निश्चयनय का आश्रय करनेवालों को ही प्राप्त होती है तथा पराश्रित व्यवहारनय का आश्रय तो एकान्ततः मुक्त नहीं होनेवाला अभव्य भी करता है ।”

इस गाथा में व्यवहारनय को हेय और निश्चयनय को उपादेय सिद्ध

किया गया है; क्योंकि व्यवहार का विषय परवस्तु और भेद है और निश्चयनय का विषय अभेद अखण्ड ज्ञायक-स्वभावी निजात्मा है ।

व्यवहार को हेय बताते हुए एक बात तो यह कही गई है कि पर के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले अध्यवसान ही बंध के कारण हैं ह यह बात सुनिश्चित हो जाने पर यह स्वतः ही सुनिश्चित हो जाता है कि व्यवहारनय भी पराश्रित होने के कारण अध्यवसान के समान ही बंध का कारण है; क्योंकि पराश्रयपना दोनों में समानरूप से विद्यमान है ।

दूसरी बात यह कही गई है कि निश्चय का आश्रय लेनेवालों को ही मुक्ति की प्राप्ति होती है; क्योंकि व्यवहारनय जिन क्रियाकाण्डों और शुभभावों को धर्म कहता है; वे सब तो अभव्यों के भी हो जाते हैं, होते देखे जाते हैं ।

उक्त दोनों कारणों से सहज ही सिद्ध हो जाता है कि पराश्रित होने से व्यवहारनय हेय है और आत्माश्रित होने से निश्चयनय उपादेय है । ●

निजात्मा के प्रति अरुचि ही उसके प्रति अनन्त क्रोध है ।

जिसके प्रति हमारे हृदय में अरुचि होती है, उसकी उपेक्षा हमसे सहज ही होती रहती है । अपनी आत्मा को क्षमा करने और क्षमा माँगने का मात्र आशय यही है कि हम उसे जानें, पहिचानें और उसी में रम जायें ।

स्वयं को क्षमा करने और स्वयं से क्षमा माँगने के लिए वाणी की औपचारिकता की आवश्यकता नहीं है । निश्चयक्षमावाणी तो स्वयं के प्रति सजग हो जाना ही है । उसमें पर की अपेक्षा नहीं रहती तथा आत्मा के आश्रय से क्रोधादिकषायों के उपशान्त हो जाने से व्यवहारक्षमावाणी भी सहज ही प्रस्फुटित होती है ।

हृ धर्मकेदशलक्षण, पृष्ठ-१८५

सम्यग्दर्शन से रहित जीवों को वंदन करना योग्य नहीं

(३५)

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं ।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥

(हरिगीत)

सद्धर्म का है मूल दर्शन जिनवरेन्द्रों ने कहा ।
हे कानवालो सुनो दर्शन-हीन वंदन योग्य ना ॥

जिनवरदेव ने अपने शिष्यों से कहा कि धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है । अतः हे जिनवरदेव के शिष्यों ! कान खोलकर सुन लो कि सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति वंदना करने योग्य नहीं है ।

यह गाथा अष्टपाहुड ग्रन्थ के दर्शनपाहुड नामक पाहुड की दूसरी गाथा है । इस गाथा में यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शन धर्म का मूल (जड़) है । जिसप्रकार वृक्ष का मूल उसकी जड़ है; उसीप्रकार रत्नत्रयरूप धर्म की जड़ सम्यग्दर्शन है ।

सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान सम्यग्ज्ञान और चारित्र सम्यक्चारित्र नहीं होता ।

अनन्त सुख की प्राप्ति, मुक्ति की प्राप्ति सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से होती है ।

यह बात समवशरण में सौ इन्द्रों की उपस्थिति में जिनेन्द्र भगवान ने कही है, अपने शिष्यों से कही है, भगवान महावीर ने गौतम स्वामी से कही है, सुधर्मस्वामी से कही है, जम्बूस्वामी से कही है । अरे भाई ! अपन भी तो उनके ही अनुयायी हैं; अपन से भी कही है, हम सबसे कही है ।

यदि तुम कान वाले हो, तुम्हें कानों से सुनाई देता है तो कान लगाकर सुनो कि तुम्हें जिसको सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई है, उस साधु की वंदना नहीं करना चाहिए । ●

दर्शन-ज्ञान-चारित्र से भ्रष्ट

(३६)

जे दंसणेसु भट्टा णाणे भट्टा चरित्तभट्टा य ।
एदे भट्ट वि भट्टा सेसं जणं विणासंति ॥

(हरिगीत)

जो ज्ञान-दर्शन-भ्रष्ट हैं चारित्र से भी भ्रष्ट हैं ।
वे भ्रष्ट करते अन्य को वे भ्रष्ट से भी भ्रष्ट हैं ॥

जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, सम्यग्ज्ञान से भ्रष्ट हैं एवं सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट हैं; वे भ्रष्टों में भ्रष्ट हैं । ऐसे लोग स्वयं तो भ्रष्ट हैं ही, अन्य जनों को भी भ्रष्ट करते हैं; अतः ऐसे लोगों से दूर रहना चाहिए ।

यह अष्टपाहुड के दर्शनपाहुड की ८वीं गाथा है । इसमें रत्नत्रय से भ्रष्ट मिथ्यादृष्टि जीवों की संगति से दूर रहने की प्रेरणा दी गई है ।

इसमें अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, सम्यग्ज्ञान से भ्रष्ट हैं और सम्यक्चारित्र से भी भ्रष्ट हैं ह वे लोग भ्रष्टों से भी भ्रष्ट हैं । वे लोग स्वयं तो भ्रष्ट हैं ही; संगति में आनेवाले अन्य लोगों को वे भ्रष्ट करते हैं । ऐसे महाभ्रष्ट लोगों की संगति में रहना योग्य नहीं है ।

यद्यपि लोक में यह भी कहा जाता है कि ह

जोरहीम उत्तम प्रकृति कहा कर सकत्त कुसंग ।

चन्दन विष व्यापत नहीं लिपटे रहत भुजंग ॥

यद्यपि चन्दन के पेड़ से विषधर साँप लिपटे रहते हैं; तथापि चन्दन के वृक्ष पर विष नहीं चढ़ता ।

जैनदर्शन कहता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का भला-बुरा नहीं करता, कर सकता नहीं; प्रत्येक स्वयं के भले-बुरे का कर्ता स्वयं है । तथापि यहाँ लौकिक दृष्टि से सत्संग की महिमा बताई गई है ।

कहा गया है कि ह

संगत ही गुण ऊपजे, संगत ही गुण जाय ।
बाँस, फाँस अर मीसरी एकही भाव विकाय ॥

सत्संगति से गुण पैदा होते हैं और कुसंगति से गुण चले जाते हैं । बाँस की फाँस जो किसी काम की नहीं है; पर वह बाँस की फाँस मिश्री से लिपटी हुई होने पर मिश्री के भाव ही बिक जाती है । इसलिए सत्संगति में रहना श्रेयस्कर है ।

यद्यपि मिश्री से लिपट कर भी बाँस की फाँस मीठी नहीं हो जाती, पर मिश्री के भाव तुल तो जाती ही है ।

इसीप्रकार यद्यपि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कुछ लेता-देता नहीं है; फिर भी सज्जन सज्जनों के पास ही रहते हैं तथा भ्रष्टों से/भ्रष्ट मिथ्यादृष्टियों से दूर रहना और सम्यग्दृष्टियों के समागम में रहना सज्जनों की सहज प्रवृत्ति है ।

हमें भी आत्मार्थी बंधुओं की सत्संगति में ही रहना चाहिए । ●

असफलता के समान सफलता का पचा पाना भी हर एक का काम नहीं है । जहाँ असफलता व्यक्ति को, समाज को हताश, निराश, उदास कर देती है, उत्साह को भंग कर देती है; वहीं सफलता भी संतुलन को कायम नहीं रहने देती । वह अहंकार पुष्ट करती है, विजय के प्रदर्शन को प्रोत्साहित करती है । कभी-कभी तो विपक्ष को तिरस्कार करने को भी उकसाती नजर आती है ।

पर सफलता-असफलता की ये सब प्रतिक्रियाएँ जनसामान्य पर ही होती हैं, गंभीर व्यक्तित्ववाले महापुरुषों पर इनका कोई प्रभाव लक्षित नहीं होता । वे दोनों ही स्थितियों में सन्तुलित रहते हैं, अडिग रहते हैं ।

ह सत्य की खोज, पृष्ठ-२३३

दर्शन से भ्रष्ट मुक्ति प्राप्त नहीं करता

(३७)

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥

(हरिगीत)

दृग-भ्रष्ट हैं वे भ्रष्ट हैं उनको कभी निर्वाण ना ।

हों सिद्ध चारित्र-भ्रष्ट पर दृग-भ्रष्ट को निर्वाण ना ॥

जो पुरुष सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे भ्रष्ट हैं; उनको निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि जो चारित्र से भ्रष्ट हैं वे तो सिद्धि को प्राप्त होते हैं, परन्तु जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे सिद्धि को प्राप्त नहीं होते । तात्पर्य यह है कि चारित्र की अपेक्षा श्रद्धा का दोष बड़ा होता है ।

यह गाथा अष्टपाहुड शास्त्र के दर्शनपाहुड की तीसरी गाथा है । इसमें यह कहा गया है कि भले चारित्र भ्रष्ट सिद्ध हो जावे पर दर्शन भ्रष्ट कभी भी सिद्ध नहीं हो सकते ।

तात्पर्य यह है कि जिन्हें अभी तक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई है, जिन्हें अभी तक आत्मा का अनुभव नहीं हुआ है, अपने आत्मा में अपनापन नहीं आया है; तबतक वे सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट ही हैं । जबतक सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, तबतक उन्हें मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती ।

एक बार चारित्र भ्रष्ट भले ही मुक्त हो जावे; पर सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट कभी भी मुक्त नहीं होंगे ।

यद्यपि रत्नत्रय की उत्पत्ति एक साथ ही होती है; तथापि तीनों के पूर्ण होने का काल अलग-अलग है ।

सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान में ही पूर्ण हो जाता है, सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन के साथ ही हो जाती है, पर सम्यग्ज्ञान की पूर्णता तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान होने पर होती है ।

चारित्र की भी उत्पत्ति सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ चौथे ही गुणस्थान में हो जाती है। अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ भी चले जाते हैं; अतः चारित्र का अंश प्रगट हो जाता है।

इसप्रकार यद्यपि तीनों का आरंभ एक साथ चौथे गुणस्थान में ही हो जाता है; तथापि ऐसा कहा जाता है कि चारित्र का आरंभ चौथे में नहीं होता, देशचारित्र पाँचवें में होता है और सकलचारित्र नम दिगम्बर दशा में से छठवें-सातवें गुणस्थान में और उससे ऊपर ही होता है।

ये सब विभिन्न अपेक्षार्ये हैं। वस्तुतः बात यह है कि मुक्ति की प्राप्ति तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हूँ इन तीनों की एकतापूर्वक पूर्णता होने पर ही होती है। अतः मुक्ति का मार्ग तो इन तीनों की एकता ही है।

इसलिए वस्तुतः यह कहना तो उपचार ही है कि भले ही चारित्र भ्रष्ट मुक्त हो जावें; पर न तो श्रद्धा से भ्रष्ट मुक्त होते और चारित्र से भ्रष्ट ही मुक्त होते हैं। बात तो यही सत्य है कि चारित्रवान सम्यग्दृष्टि ही मुक्त होते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि चारित्र से भ्रष्ट लोग जब निर्मल चारित्र धारण कर लेते हैं; तब तो मुक्त हो जाते।

हाँ, हो जाते; पर वे चारित्र भ्रष्ट मुक्त नहीं हुए, पर चारित्रवान सम्यग्दृष्टिमुक्त हुए हैं।

उक्त गाथा में कही गई बात पूरी तरह उपचरित कथन है। जो श्रद्धा से भ्रष्ट होता है, उसका विवेक नष्ट हो जाता है, पर चारित्र भ्रष्ट का विवेक नष्ट नहीं होता।

इसप्रकार तो श्रद्धा से भ्रष्ट लोग भी जब निर्मल सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं, तब वे भी मुक्त हो जाते हैं।

उनको भी बोधि की प्राप्ति नहीं होती

(३८)

जे वि पडंति य तेसिं जाणंता लज्जागारवभयेण ।
तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणं ॥

(हरिगीत)

जो लाज गारव और भयवश पूजते दृग-भ्रष्ट को।
की पाप की अनुमोदना ना बोधि उनको प्राप्त हो।।

‘ये साधु सम्यग्दर्शन-भ्रष्ट हैं’ हूँ ऐसा जानकर भी जो पुरुष लज्जा, गौरव व भय से उनके पैरों में पड़ते हैं, पाप की अनुमोदना करने वाले होने से उन्हें भी बोधि (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) नहीं है।

व्यक्तिगतरूप से यह जानते हुए कि ये मिथ्यादृष्टि हैं; लज्जा, भय और गौरव आदि से जो मुनि या श्रावक उनकी विनय करते हैं; उनके पैरों में पड़ते हैं, सेवा करते हैं; वे अज्ञानी ही हैं, उन्हें भी बोधिलाभ अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि उन्होंने भी पाप की अनुमोदना की है।

करने, कराने और अनुमोदना करनेवालों को बराबर फल की प्राप्ति होती है।

यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गाथा है, क्योंकि इसमें उन लोगों को सावधान किया गया है; जो लोग यह अच्छी तरह जानते हैं कि ये सन्मार्ग पर नहीं हैं; सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से संयुक्त नहीं हैं; तथापि लज्जा, मानप्रतिष्ठा और भय के कारण उन्हें साधुओं के समान पूजते हैं; रत्नत्रय विहीन लोगों की अनुमोदना करने के कारण वे भी रत्नत्रय से रहित ही हैं और उन्हें निकट भविष्य में भी रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होगी।

उन्हें भी बोधि दुर्लभ है

(३९)

जे दंसणेसु भट्टा पाए पांडंति दंसणधराणं ।
ते होंति लल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं ॥

(हरिगीत)

चाहें नमन दृगवंत से पर स्वयं दर्शनहीन हों ।

है बोधिदुर्लभ उन्हें भी वे भी वचन-पग हीन हों ॥

जो पुरुष स्वयं सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, पर अन्य सम्यग्दृष्टियों से अपने पैर पुजवाते हैं या पुजवाना चाहते हैं; वे परभव में लूले और गूंगे होते हैं, उन्हें भी बोधि (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) की प्राप्ति दुर्लभ है ।

यहाँ आचार्यदेव लूले और गूंगे कह कर यह कहना चाहते हैं कि वे एकेन्द्रिय पेड़-पौधे होंगे, जहाँ चलना-फिरना, कुछ करना और बोलना संभव नहीं होगा ।

यह गाथा अष्टपाहुड के दर्शनपाहुड नामक पाहुड की १२वीं गाथा है । इसमें यह बताया गया है कि जो मिथ्यादृष्टि संत, सम्यग्दृष्टि जीवों से अपने पैर पड़वाना चाहते हैं; पड़वाते हैं; वे भविष्य में लूले और गूंगे होंगे । उन्हें सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति नहीं होगी; क्योंकि वे एकेन्द्रिय होंगे । लूले-लंगड़े लोग चल नहीं पाते, कुछ कर नहीं पाते और गूंगे बोल नहीं पाते हैं ।

असली लंगड़े-लूले और गूंगे तो एकेन्द्रिय वनस्पति पेड़-पौधे ही हैं; क्योंकि निगोद वनस्पतिकायिक ही है ।

पुण्य के फल में मनुष्य और देवगति की प्राप्ति होती है और पाप के फल में तिर्यच और नरक गति की प्राप्ति होती है ।

पुण्य-पाप का अभाव करनेवालों को मोक्ष की प्राप्ति होती है;

परन्तु मिथ्यात्वरूप महापाप के फल में निगोद की प्राप्ति होती है; जहाँ जीवों को अनन्तानन्त दुःख अनन्त काल तक भोगने पड़ते हैं ।

निगोदिया जीव नियम से एकेन्द्रिय जीव ही होते हैं । एकेन्द्रियों में भी एकमात्र साधारण वनस्पति ही निगोदिया हैं; जो अत्यन्त अल्प आयुवाले होते हैं, एक श्वांस में अठारह बार जन्मते-मरते हैं । इसलिए असली संसार तो निगोद ही है ।

जो पैरों से चल नहीं सकते, वे लंगड़े; जो हाथों से कुछ कर नहीं सकते, वे लूले और जो जबान से बोल नहीं सकते, वे गूंगे कहे जाते हैं ।

जगत में हम इन लोगों के दुःख प्रत्यक्ष में देखते हैं; पर ये तो किसी-किसी को ही होते हैं; पर निगोदिया जीवों को सभी दुःख एक साथ निरन्तर ही होते हैं ।

देखो, आचार्यदेव स्वयं गाथा में यह कह रहे हैं कि जो साधु स्वयं सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, मिथ्यादृष्टि हैं और सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा ज्ञानी पुरुषों से अपने पैर पुजवाना चाहते हैं, पुजवाते हैं; वे अगले भवों में लूले-गूंगे होते हैं; कुछ करने और बोलने की स्थिति में नहीं होते ।

वर्तमान भव में वे लोग अपने कर्तृत्व और वक्तृत्व का अनुचित लाभ उठा रहे हैं, अपने कर्तृत्व और वक्तृत्व के बल पर सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा लोगों से अपने पैर पुजवाना चाहते हैं । ज्ञानी धर्मात्माओं द्वारा उनकी उपेक्षा होने के भ्रम से अनेक प्रकार से कलह करते हैं, झगड़ा करते हैं, अनेक प्रकार से उपद्रव करके शांति भंग करते हैं । इसके फल में उनसे वाणी छिन जाती है, कुछ करने की शक्ति छिन जाती है । यह दुर्दशा उत्कृष्टरूप में निगोद में होती है । यही उनका लूलापन है, गूंगापन है ।

यदि निगोद में नहीं जाना है, संसार सागर से पार होना है तो इसप्रकार की प्रवृत्तियाँ छोड़ देना चाहिए, इसप्रकार की वृत्तियाँ चित्त में पैदा नहीं होने देना चाहिए ।

चित्त की शुद्धि और प्रवृत्ति की पवित्रता साधु जीवन का मुख्य आधार है ।

कोटि वर्षों तप करे...

(४०)

सम्मत्तविरहियाणं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंता णं ।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥

(हरिगीत)

यद्यपि करें वे उग्र तप शत-सहस-कोटी वर्ष तक ।
पर रत्नत्रय पावें नहीं सम्यक्त्व-विरहित साधु सब ॥

जो मुनि सम्यग्दर्शन से रहित हैं, वे एक हजार करोड़ (दश अरब) वर्ष तक भलीभाँति उग्र तप करें, तब भी उन्हें बोधि (रत्नत्रय) की प्राप्ति नहीं होती है ।

यह गाथा अष्टपाहुड़ के दर्शनपाहुड़ की ५वीं गाथा है। इसमें कहा गया है कि चाहे कोई हजार करोड़ (दश अरब) वर्ष तक उग्र तप करे, भलीभाँति तप करे, तब भी यदि सम्यग्दर्शन नहीं है तो उसे बोधि माने रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होगी ।

ऐसा लिखकर आचार्यदेव तप की महिमा नहीं घटा रहे, अपितु सम्यग्दर्शन की महिमा बढ़ा रहे हैं ।

एक हजार करोड़ वर्ष हूँ यह संख्या कोई निश्चित नहीं, अपितु वर्षों की बहुलता के अर्थ में यह प्रयोग हुआ है ।

यह उपदेशी भाषा है कि चाहे तुम कुछ भी करो, करोड़ों वर्षों तक तप तपो, तब भी सम्यग्दर्शन बिना मुक्ति प्राप्त होनेवाली नहीं है । मुक्ति मार्ग में सम्यग्दर्शन की अनिवार्यता दिखाना मुख्य उद्देश्य है ।

इसप्रकार के अतिशयोक्तिपूर्ण कथनों में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि उन्हें पूर्वापर आगम से मिलान करना अत्यन्त कठिन होता है ।

मुक्ति की प्राप्ति तो जिसप्रकार सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होती; उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के बिना भी नहीं होती; क्योंकि मुक्ति का मार्ग तो तीनों की एकतारूप ही है ।

तप चारित्र का उत्कृष्टतम रूप है । ध्यान भी, एक तप नहीं, सर्वोत्कृष्ट तप है और केवलज्ञान की उत्पत्ति ध्यान की अवस्था में ही होती है ।

एक ओर तो यह कहा जाता है कि अन्तर्मुहूर्त के ध्यान से केवलज्ञान और अनन्त सुख की प्राप्ति हो जाती है और दूसरी ओर यह कहा जा रहा है कि एक हजार करोड़ वर्ष तक तप करनेवाले साधु रत्नत्रय नहीं पाते ।

यद्यपि इस प्रकरण में यहाँ कहीं लिखा नहीं है कि यह नकली तप की बात है और न यह लिखा है कि यह असली सम्यग्दर्शन की बात है । निश्चय-व्यवहार शब्दों का भी प्रयोग नहीं है ।

वस्तुतः बात यह है कि जब तप की बात करते हैं तो नकली तप की बात करने लगते हैं और सम्यग्दर्शन की बात करते हैं तो वह असली आ जाता है ।

अरे भाई ! सम्यग्दर्शन भी तो नकली हो सकता है । असली-नकली दोनों प्रकार का होता भी है । इसीप्रकार तप भी दोनों प्रकार का होता है हूँ असली और नकली ।

जब तप की बात लाते हो तो वो कोटि जन्म वाले को ही क्यों याद करते हो, भरत चक्रवर्ती जैसा ध्यान हूँ तप लावों न, जो अन्तर्मुहूर्त में बेड़ा पार लगा दे ।

हमें तो किसी से भी राग-द्वेष नहीं है, हमें दोनों में अत्यन्त भक्तिभाव है, वात्सल्यभाव है ।

जगत की यह स्थिति देखकर कि वह बिना कुछ सोचे-समझे तप के पीछे भाग रहा है और सम्यग्दर्शन की ओर ध्यान ही नहीं दे रहा है । तप के नाम पर नकली उपवासों की लाइन लग रही है और ध्यान भी कम नहीं हो रहे हैं ।

जगत की इस प्रवृत्ति पर कुछ अंकुश लगाना उद्देश्य रहा हो आचार्यों का । हो सकता है कि आचार्यों के जमाने में भी कुछ इसप्रकार की प्रवृत्तियाँ पनप रही हों ।

जो कुछ भी रहा हो, हमें तो जिनवाणी के अनुसार कुछ समाधान खोजना ही होगा।

मोक्ष जाने के लिए करोड़ों वर्ष तप नहीं करना पड़ता। मुक्ति की प्राप्ति के लिए तो चरमशरीरी का अन्तर्मुहूर्त तक शुक्लध्यानरूप तप ही पर्याप्त है।

असल बात यह है कि धर्म का आरंभ सम्यग्दर्शन से होता है। शास्त्रों में भी व्यवहारधर्म के नाम पर जो भी क्रियाकाण्ड बताया गया है; वह सब भी सम्यग्दर्शन से ही सम्यक्पने को प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन के बिना उसकी कोई कीमत नहीं।

यह स्पष्ट करना ही आचार्यदेव का मुख्य उद्देश्य है।

आचार्यश्री की तो यही भावना है कि सभी भव्य जीव पहले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निश्चयरत्नत्रय प्राप्त कर शक्ति अनुसार तप भी अवश्य करें। ●

अध्यात्म के नयों के सभी उदाहरण आगम में भी प्राप्त हो सकते हैं, आगम के भी माने जा सकते हैं; क्योंकि अध्यात्म आगम का ही एक अंग है और आत्मा भी छह द्रव्यों में से ही एक द्रव्य है, परन्तु आगम के सभी नय अध्यात्म पर भी घटित हों ह्व यह आवश्यक नहीं है।

समस्त लोकालोक को अपने में समेट लेने से आगम का क्षेत्र विस्तृत है और उसकी प्रकृति भी विस्तार में जाने की है।

मात्र आत्मा तक सीमित होने तथा अपने में ही सिमटने की प्रकृति होने से अध्यात्म के नयों में भेद-प्रभेदों का विस्तार वैसा नहीं पाया जाता, जैसा कि आगम के नयों में पाया जाता है।

आगम फैलने की और अध्यात्म अपने में ही सिमटने की प्रक्रिया का नाम है। ह्व परमभावप्रकाशकनयचक्र, पृष्ठ-१७८

जड़ के बिना द्रुम परिवार न

(४१)

जह मूलम्बि विणट्टे दुमस्स परिवार णत्थि परवड्ढी ।
तह जिणदंसणभट्टा मूलविणट्टा ण सिज्झंति ॥

(हरिगीत)

जिसतरह द्रुम परिवार की वृद्धि न हो जड़ के बिना ।
बस उसतरह ना मुक्ति हो जिनमार्ग में दर्शन बिना ॥

जिसप्रकार वृक्ष की जड़ के नष्ट हो जाने पर उसके परिवार (तना, शाखा, पत्र, पुष्प, फल आदि) की वृद्धि नहीं होती; उसीप्रकार सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट मुनि, जब सम्यग्दर्शनरूप मूल से ही विनष्ट हैं; तब उन्हें मुक्ति की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

दिगम्बर जैनदर्शन में एक मूलसंघ नामक संघ है। उसके आचार्य हैं आचार्य कुन्दकुन्द। उनके नाम की एक आम्नाय भी चलती है; जिसका नाम कुन्दकुन्दाम्नाय है।

अध्यात्म का परमश्रेष्ठ कथन और परम्परा इसी संघ में प्राप्त होती है।

जैनदर्शनरूप वृक्ष की जड़ यही संघ है। इसके नष्ट होने पर धर्म का व्रत, समिति आदि परिवार की वृद्धि भी रुक जाती है। एक तरह से मूल के नष्ट होने पर धर्म का वृक्ष भी उखड़ने लगता है; धर्म का हरा-भरा, फला-फूला बगीचा भी उजड़ने लगता है।

इसप्रकार दर्शन के बिना जिनमार्ग ही नष्ट होने लगता है।

मूल के विनष्ट होने का भाव दर्शनपाहुड़ में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है ह्व

जिसप्रकार वृक्ष का मूल विनष्ट होने पर उसके परिवार अर्थात् स्कंध, शाखा, पत्र, पुष्प, फल की वृद्धि नहीं होती; उसीप्रकार जो जिनदर्शन से भ्रष्ट हैं, बाह्य में तो नग्न-दिगम्बर यथाजातरूप निर्ग्रन्थ लिंग, मूलगुण का धारण, मयूर पिच्छिका (मोर के पंखों की पींछी) तथा कमण्डल

धारण करना, यथाविधि दोष टालकर खड़े-खड़े शुद्ध आहार लेना ह इत्यादि बाह्य शुद्ध वेष धारण करते हैं।

तथा अन्तरंग में जीवादि छह द्रव्य, नव पदार्थ, सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान एवं भेदविज्ञान से आत्मस्वरूप का अनुभवन ह ऐसे दर्शन-मत से बाह्य हैं, वे मूलविनष्ट हैं, उनके सिद्धि नहीं होती, वे मोक्षफल को प्राप्त नहीं करते।

व्यवहार से उक्त कथन ठीक ही है; पर निश्चयनय से विचार करें तो निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होना ही धर्म से भ्रष्ट होना है, धर्म का नष्ट होना है।

आत्मज्ञान और आत्मध्यान का मार्ग नष्ट होना ही धर्मभ्रष्ट होना है। अष्टपाहुड़ में यहाँ आगे की गाथा में कहा है ह

जह मूलाओ खंधो साहापरिवार बहुगुणो होइ।

तह जिणदंसण मूलो णिद्धिदो मोक्खमग्गस्स ॥११॥

(हरिगीत)

मूल ही है मूल ज्यों शाखादि द्रुम परिवार का।

बस उस तरह ही मुक्तिमग का मूल दर्शन को कहा ॥११॥

जिसप्रकार वृक्ष के मूल से बहुत शाखाओं वाले स्कंध होते हैं; उसीप्रकार गणधरदेवादि ने जिनदर्शन को मोक्षमार्ग का मूल कहा है।

इस गाथा का अर्थ लिखते हुए वहाँ लिखा है ह

“यहाँ जिनदर्शन अर्थात् तीर्थकर परमदेव ने जो दर्शन ग्रहण किया, उसी का उपदेश दिया है, वह मूलसंघ है; वह अट्टाईस मूलगुण सहित कहा है।

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, छह आवश्यक, पाँच इन्द्रियों को वश में करना, स्नान नहीं करना, भूमिशयन, वस्त्रादिक का त्याग अर्थात् दिगम्बर मुद्रा, केशलोच करना, एक बार भोजन करना, खड़े-खड़े आहार लेना, दंतधावन न करना ह यह अट्टाईस मूलगुण हैं।

तथा छियालीस दोष टालकर आहार करना, वह एषणा समिति में आ गया।

ईर्यापथ ह देखकर चलना वह ईर्या समिति में आ गया तथा दया का उपकरण मोरपुच्छ की पीछी और शौच का उपकरण कमण्डल धारण करना ह ऐसा बाह्य भेष है।

तथा अन्तरंग में जीवादिक षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्त्व, नव पदार्थों को यथोक्त जानकर श्रद्धान करना और भेदविज्ञान द्वारा अपने आत्मस्वरूप का चिंतवन करना, अनुभव करना ऐसा दर्शन अर्थात् मत वह मूलसंघ का है।

ऐसा जिनदर्शन है, वह मोक्षमार्ग का मूल है; इस मूल से मोक्षमार्ग की सर्व प्रवृत्ति सफल होती है तथा जो इससे भ्रष्ट हुए हैं, वे इस पंचमकाल के दोष से जैनाभास हुए हैं, वे श्वेताम्बर, द्राविड़, यापनीय, गोपुच्छ-पिच्छ, निःपिच्छ ह पाँच संघ हुए हैं; उन्होंने सूत्र सिद्धान्त अपभ्रंश किये हैं।

जिन्होंने बाह्य वेष को बदलकर आचरण को बिगाड़ा है, वे जिनमत के मूलसंघ से भ्रष्ट हैं, उनको मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं है।

मोक्षमार्ग की प्राप्ति मूलसंघ के श्रद्धान-ज्ञान-आचरण ही से है ह ऐसा नियम जानना।

जैनसंघ में लगभग दो हजार वर्ष से जैनसंघ विघटित होता आ रहा है। उक्त चर्चा अत्यन्त संक्षेप में उक्त स्थिति की है।

उक्त चर्चा उद्धृत करने का एकमात्र उद्देश्य यह है कि थोड़ा ख्याल में तो आवे।

मत, मान्यता को दर्शन कहा जाने लगा था। जैनियों का रहन-सहन, पूजा-पाठ आदि सभी प्रवृत्तियों को जैनमत और जैनमत को जैनदर्शन समझा जाने लगा।

त्रिकाली ध्रुव आत्मा के अनुभवपूर्वक होनेवाले श्रद्धागुण के निर्मल परिणामनरूप सम्यग्दर्शन की ओर कोई ध्यान ही नहीं देता। सम्यग्दर्शन माने अपने में अपनापन और चतुर्थ गुणस्थान में होनेवाला सद्व्यवहार।

जिनेन्द्र भगवान के मूल मार्ग पर चलनेवाला ही मूलसंघ है। इसी मूलसंघ के मूल आचार्य हैं आचार्य कुन्दकुन्द। ●

असंयमी की वन्दना नहीं करना

(४२)

अस्संजदं ण वन्दे वत्थविहीणो वि तो ण वंदिज्ज ।
दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि ॥

(हरिगीत)

असंयमी न वन्द्य है वृगहीन वस्त्रविहीन भी।
दोनों ही एक समान हैं दोनों ही संयत हैं नहीं।

असंयमी को नमस्कार नहीं करना चाहिए। इसीप्रकार यदि भावसंयम नहीं है, पर बाहर से वस्त्रादि त्यागकर द्रव्यसंयम धारण कर लिया है, नग्न दिगम्बर दशा धारण कर ली है तो भी वह वंदनीय नहीं है; क्योंकि असली संयम के अभाव में दोनों ही समान रूप से अवंदनीय है।

यह गाथा अष्टपाहुड के दर्शनपाहुड की २६वीं गाथा है। इसमें कहा गया है कि असंयमी की वंदना नहीं करना चाहिए।

वस्त्रधारी असंयमी तो वंदन करने योग्य है ही नहीं; कदाचित् वह वस्त्रविहीन नग्न दिगम्बर भी हो तो भी वंदन करने योग्य नहीं है; क्योंकि असंयमपने में दोनों समान हैं; दोनों ही असंयमी हैं।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अत्रती सम्यग्दृष्टि का जीवन यद्यपि सदाचार से सम्पन्न होता है; पर संयमी नहीं; क्योंकि अणुव्रतरूप देशसंयम और महाव्रतरूप सकल संयम उनके नहीं होता। इसलिए उन्हें संयमी पुरुषों जैसा पूज्य नहीं माना जाता।

उचित आदर सम्मान तो उनका होता ही है और होना भी चाहिए। कुछ लोग पुजवाने की भावना से नग्नता धारण कर लेते हैं। अतः नग्न मिथ्यादृष्टियों को पूजने का निषेध किया है।

चाहे नग्न हो, चाहे वस्त्र पहने हो, मिथ्यादृष्टि तो असंयमी ही होते हैं; इसलिए अपूज्य हैं। ●

कोई करे क्यों वंदना गुण हीन श्रावक-साधु की

(४३)

ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुतो ।
को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेय सावओ होइ ॥

(हरिगीत)

ना वंदना हो देह की कुल की नहीं ना जाति की।
कोई करे क्यों वंदना गुण-हीन श्रावक-साधु की ॥

न तो देह वंदनीय है, न कुल वंदनीय है और न जाति ही वंदनीय है। गुणहीनों की वंदना कौन करे? क्योंकि गुणहीन न तो सच्चे श्रावक ही होते हैं और न सच्चे श्रमण ही।

यह गाथा अष्टपाहुड शास्त्र के दर्शनपाहुड की २७वीं गाथा है। इसमें यही बताया गया है कि वन्दना गुणों की ही होती है। कहा भी है

गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते न जातिर्न च वयः

श्रमणों की वन्दना की बात चल रही है। यहाँ यह कहा जा रहा है कि गुण ही पूज्य हैं, गुणहीनों को कोई नहीं पूछता।

न तो जाति को कोई पूछता, न कुल को, न रूप को न रंग को। गुणहीन श्रावकों और साधुओं को कोई नहीं पूछता।

मध्यकाल में एक समय ऐसा आया था कि जब लोग गली-गली में यह गाया करते थे कि ह

जाति न पूँछो साधु की पूँछ लीजिए ज्ञान।

मोल करो तलवार का पड़ा रहन दो म्याँन ॥

वह संतयुग था। सभी धर्मों की संतवाणी गूँज रही थी। चाहे साधु सन्तों की बात हो, चाहे विद्वानों की बात हो; सभी में ज्ञान देखा जा रहा था। क्रियाकाण्डी पण्डित और ढोंगी साधुओं की पूँछ-परख कहीं नहीं थी। ●

ज्ञानी और अज्ञानी की पहिचान

(४४-४५)

कम्मणेकम्मम्हि य अहमिदि अहकंच कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥
कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥

(हरिगीत)

मैं कर्म हूँ नोकर्म हूँ या हैं हमारे ये सभी।
यह मान्यता जब तक रहे अज्ञानि हैं तब तक सभी ॥
कर्म के परिणाम को नोकर्म के परिणाम को।
जो ना करे बस मात्र जाने प्राप्त हो सदज्ञान को ॥

जब तक इस आत्मा की ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों, मोह-राग-द्वेषादि भावकर्मों एवं शरीरादि नोकर्मों में आत्मबुद्धि रहेगी अर्थात् 'यह मैं हूँ और कर्म-नोकर्म मुझ में हैं' हूँ ऐसी बुद्धि रहेगी, ऐसी मान्यता रहेगी, तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध है, अज्ञानी है।

जो आत्मा कर्म के परिणाम को एवं नोकर्म के परिणाम को नहीं करता है; किन्तु मात्र जानता है, वह ज्ञानी है।

ये गाथायें समयसार शास्त्र की १९वीं एवं ७५वीं गाथायें हैं। इनमें अज्ञानी और ज्ञानी का स्वरूप समझाया गया है। १९वीं गाथा में अज्ञानी का और ७५वीं गाथा में ज्ञानी का स्वरूप समझाया है।

'ये ही मैं हूँ' हूँ इसप्रकार की मान्यता का नाम अहंबुद्धि है, एकत्वबुद्धि है और 'ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ' हूँ इसप्रकार की मान्यता का नाम ममत्वबुद्धि है, स्वामित्वबुद्धि है। इसीप्रकार 'मैं इनका कर्ता हूँ, ये मेरे कर्ता हैं' हूँ इसप्रकार की मान्यता का नाम कर्तृत्वबुद्धि है और मैं इनका भोक्ता हूँ, ये मेरे भोक्ता हैं हूँ इसप्रकार की बुद्धि का नाम भोक्तृत्वबुद्धि है।

इसप्रकार कर्म-नोकर्म में एकत्वबुद्धि एवं ममत्वबुद्धि अप्रतिबुद्धता है, अज्ञान है और भगवान आत्मा को इनसे भिन्न निजरूप जानना प्रतिबुद्धता है, ज्ञान है।

इसप्रकार त्रिकाली ध्रुव आत्मा में अपनापन होना और उससे भिन्न पदार्थों में अपनापन नहीं होना ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान है और आत्मा से भिन्न पदार्थों में अपनापन होना ही मिथ्यात्व है अर्थात् मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान है।

१९वीं गाथा में यह कहा गया है कि जबतक यह आत्मा कर्म और नोकर्म में अहंबुद्धि हूँ एकत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि रखेगा, तबतक अज्ञानी रहेगा और ७५वीं गाथा में कहा है कि कर्म और नोकर्म में कर्तृत्वबुद्धि नहीं रखनेवाला ज्ञानी है।

अज्ञानी और ज्ञानी को परिभाषित करते हुए दोनों ही गाथाओं में कर्म और नोकर्म की बात तो समान ही कही है, परन्तु १९वीं गाथा में अज्ञानी का स्वरूप समझाते हुए एकत्वबुद्धि और ममत्वबुद्धि की बात की है और ७५वीं गाथा में ज्ञानी का स्वरूप समझाते हुए कर्तृत्वबुद्धि के निषेध की बात कर रहे हैं। यह अंतर अधिकारों के विभाजन के कारण आया है।

कर्म और नोकर्म में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व रखनेवाला अज्ञानी है और इनमें एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व न रखनेवाला; मात्र जाननेवाला ही ज्ञानी है।

कर्म में द्रव्यकर्म और भावकर्म हूँ दोनों आ जाते हैं और नोकर्म में शरीरादि संयोगी पदार्थ आते हैं। द्रव्यकर्म का उदय भावकर्म और नोकर्म के रूप में प्रतिफलित होता है।

आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेष के भावों में घातिया कर्मरूप द्रव्यकर्म का उदय निमित्त होता है और शरीरादि बाह्य पदार्थों के संयोग में अघातिया कर्मरूप द्रव्यकर्म का उदय निमित्त होता है।

इसप्रकार द्रव्यकर्मों के उदयानुसार होनेवाले मोह-राग-द्वेष के भावरूप भावकर्म में तथा पुण्य-पाप के उदयानुसार मिलनेवाले

अनुकूल-प्रतिकूल हू सभी शरीरादि व स्त्री-पुत्रादि, मकानादि, देश-नगरादि संयोगरूप नोकर्म में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व ही अज्ञान है, मिथ्यात्व है, संसारमार्ग है।

तथा इनमें एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अभाव, सहज ज्ञाता-दृष्टाभाव ही ज्ञान है, सम्यक्त्व है, मुक्तिमार्ग है।

प्रश्न हू क्या पाप के उदय से भी शरीरादि, स्त्री-पुत्रादि, धन-धान्यादि, देश-नगरादि मिलते हैं ?

उत्तर हू क्यों नहीं ? स्वस्थ-सुन्दर शरीर, अनुकूल पत्नी, सुयोग्य पुत्र, आज्ञाकारी सेवक और सर्वप्रकार अनुकूल गृह, ग्राम, नगर और देशादि यदि पुण्योदय से प्राप्त होते हैं तो अस्वस्थ-असुन्दर शरीर, प्रतिकूल पत्नी, अयोग्य पुत्र, अविश्वसनीय सेवक और प्रतिकूल गृह, ग्राम, नगर और देशादि पापोदय से प्राप्त होते हैं। हू ये सभी नोकर्म में आ जाते हैं।

इसप्रकार मोह-राग-द्वेषादि विकारीभावों और शरीरादि एवं देश-नगरादि संयोगों में कर्तृत्वबुद्धि नहीं होना और इनके ज्ञाता-दृष्टा भाव से परिणमित होना ही ज्ञान है तथा इसप्रकार के ज्ञानभाव के परिणमित आत्मा ज्ञानी है। ज्ञानी की पहिचान का यही चिह्न है, ज्ञानी इसी चिह्न से पहिचाने जाते हैं।

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, बंध, संस्थान आदि तो पुद्गलपरिणाम हैं ही; किन्तु मोह, राग, द्वेष, सुख-दुःख आदि भी पुद्गलपरिणाम हैं और इनका कर्ता-भोक्ता निश्चय से पुद्गल ही है, आत्मा नहीं।

हाँ, आत्मा इनके जाननेरूप ज्ञान का कर्ता अवश्य है, पर इनका नहीं; क्योंकि ज्ञान आत्मा का ही परिणाम है, इस कारण आत्मा इनके ज्ञान का कर्ता है।

यह अज्ञानी आत्मा या तो परपदार्थों के ज्ञान का कर्ता आत्मा को नहीं मानते या फिर उन परपदार्थों के कर्ता-भोक्ता स्वयं को, आत्मा को मान लेते हैं। दोनों ही मान्यतायें मिथ्या हैं। ●

जीवन-मरण अर दुःख-सुख

(४६-५२)

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कदं तेसिं ॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरंति तुहं कह ते मरणं कदं तेहिं ॥
जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसिं ॥
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीविदं कदं तेहिं ॥
जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥

(हरिगीत)

मैं मारता हूँ अन्य को या मुझे मारें अन्यजन ।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन ॥
निज आयुक्षय से मरण हो हू यह बात जिनवर ने कही ।
तुम मार कैसे सकोगे जब आयु हर सकते नहीं? ॥
निज आयुक्षय से मरण हो हू यह बात जिनवर ने कही ।
वे मरण कैसे करें तब जब आयु हर सकते नहीं? ॥
मैं हूँ बचाता अन्य को मुझको बचावे अन्यजन ।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन! ॥

सब आयु से जीवित रहें हूँ यह बात जिनवर ने कही।
जीवित रखोगे किस तरह जब आयु दे सकते नहीं? ॥
सब आयु से जीवित रहें हूँ यह बात जिनवर ने कही।
कैसे बचावे वे तुझे जब आयु दे सकते नहीं? ॥
मैं सुखी करता दुःखी करता हूँ जगत में अन्य को।
यह मान्यता अज्ञान है क्यों ज्ञानियों को मान्य हो? ॥

जो जीव यह मानता है कि मैं पर-जीवों को मारता हूँ और पर-जीव मुझे मारते हैं, वह मूढ़ है, अज्ञानी है। इससे विपरीत मानने वाला ज्ञानी है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी यह मानता है कि न मैं किसी को मार सकता हूँ और न कोई मुझे मार सकता है।

जीवों का मरण आयुकर्म के क्षय से होता है हूँ ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। तुम परजीवों के आयुकर्म को तो हरते नहीं हो; फिर तुमने उनका मरण कैसे किया? हूँ यह बात गंभीरता से विचार करने योग्य है।

जीवों का मरण आयुकर्म के क्षय से होता है हूँ ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। परजीव तेरे आयुकर्म को तो हरते नहीं है तो उन्होंने तेरा मरण कैसे किया? अतः अपने मरण का दोष पर के माथे मढ़ना अज्ञान ही है।

जो जीव यह मानता है कि मैं पर-जीवों को जिलाता (रक्षा करता) हूँ और पर-जीव मुझे जिलाते (रक्षा करते) हैं; वह मूढ़ है, अज्ञानी है और इसके विपरीत मानने वाला ज्ञानी है। तात्पर्य यह है कि एक जीव दूसरे जीव के जीवन-मरण और सुख-दुख का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं है, अज्ञानी जीव व्यर्थ ही पर का कर्त्ता-धर्त्ता बनकर दुखी होता है।

जीव आयुकर्म के उदय से जीता है हूँ ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है। तुम पर-जीवों को आयुकर्म तो देते नहीं तो तुमने उनका जीवन (रक्षा) कैसे किया ?

जीव आयुकर्म के उदय से जीता है हूँ ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं। पर-जीव तुझे आयुकर्म तो देते नहीं हैं तो उन्होंने तेरा जीवन (रक्षा) कैसे किया ?

जो यह मानता है कि मैं परजीवों को सुखी-दुःखी करता हूँ, वह मूढ़ है, अज्ञानी है। ज्ञानी इससे विपरीत मानता है। ज्ञानी जानता है कि लौकिक सुख व दुःख तो जीवों को अपने पुण्य-पाप के अनुसार होते हैं, वे तो उनके स्वयं के कर्मों के फल हैं। उनमें किसी दूसरे जीव का रंचमात्र भी कर्त्तृत्व नहीं है।

उक्त सात गाथायें समयसार परमागम के बंधाधिकार की २४७ से २५२वीं गाथायें हैं। इनमें कर्मबंध के मूल कारणों की मीमांसा की गई है, गंभीरतम प्रश्न उठाये गये हैं और उनके तर्कसंगत उत्तर दिये गये हैं।

यह चर्चा इसके पहले भी हुई है और आगे भी जब-जब इस प्रकरण पर बात चलेगी, तब-तब होगी। यह ऐसा गंभीर विषय है कि जिस पर जितनी बार भी चर्चा हो, कम है।

प्रस्तुत चर्चा का आधार समयसार का सार और समयसार अनुशीलन भाग-३ है।

यह एक ऐसा विषय है कि जिस पर स्थान-स्थान एवं समय-समय पर गोष्ठियाँ की जानी चाहिए, व्याख्यान कराये जाने चाहिए।

उक्त गाथाओं में आचार्यदेव ने उक्त मान्यतावालों को तीन-तीन बार महान उपाधि दी है कि सो मूढ़ो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो हूँ ऐसा माननेवाला मूर्ख है, अज्ञानी है और ज्ञानी तो इससे विपरीत है।

इन सात गाथाओं में चार-चार बार यह बात कही है कि हूँ यह बात जिनेन्द्र भगवान ने कही है। बातें तो बहुत होती हैं, लेकिन कुछ बातों से स्वीकार नहीं होतीं, कहनेवाले के वजन से स्वीकृत होती हैं।

कोई जीव किसी को मारता और बचाता नहीं है हूँ यह बात इतनी वजनदार है कि पण्डित हुकमचन्द तो क्या, आचार्य कुन्दकुन्द भी कहें तो लोग माननेवाले नहीं हैं। यह बात कुन्दकुन्दाचार्य जानते थे, इसलिए उन्होंने बार-बार यह कहा हूँ यह बात मेरी कही हुई नहीं है।

यह बात तीर्थकर भगवान ने समवशरण में बैठकर सौ इन्द्रों की उपस्थिति में, चार ज्ञान के धारी गणधरदेव की उपस्थिति में भरी सभा/समवशरण में कही थी।

उक्त सम्पूर्ण कथन यह बात स्पष्ट करने के लिए किया गया है कि जब मैं दूसरों का कुछ करता ही नहीं हूँ, तब उसके जीवन-मरण और सुखी-दुखी होने से मुझे कर्म का बंध कैसे हो सकता है ? मुख्य बात तो यह है कि जो अपराध मेरे से हुआ ही नहीं, उसका बंध मुझे क्यों हो ?

लोक में भी यही न्याय है कि जब किसी का मरण न हो और उसके मारने के अपराध में किसी को फाँसी लगे हूँ यह कैसे हो सकता है ?

वकील जज से कहता है कि जिस आदमी को मारने के अपराध में तुम उसे फाँसी की सजा दे रहे हो, वह तो जिन्दा है। जब मरण हुआ ही नहीं तो फिर सजा किस बात की ?

आचार्यदेव भी वही तर्क यहाँ दे रहे हैं कि जब एक द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य का कुछ भला-बुरा, जीवन-मरण करता ही नहीं है तो अन्य जीवों के जीवन-मरण से मुझे बंध क्यों हो ? वह तो मरा ही नहीं, यदि मरा भी है तो भी मेरे कारण नहीं मरा तो मुझे बंध क्यों ?

लोक में भी कहावत है कि कौआ के कोसे ढोर नहीं मरते; क्योंकि यदि कौओं के कोसने से ढोर मर जाते होते तो एक भी ढोर जिन्दा नहीं बचता। कोसनेवाले कौओं की कमी थोड़े ही है।

मैं तो ऐसा भी कहता हूँ कि कौआ के कोसे ढोर नहीं मरते और अम्मा के आशीर्वाद से बेटे पास नहीं होते।

ऐसी कौन-सी माता है, जो अपने बेटों को फर्स्ट-क्लास आने का आशीर्वाद नहीं देती। जब सच्चे दिल से हर माँ भरपूर आशीर्वाद देती है, फिर भी बेटे क्यों फ़ैल होते हैं ?

गोल्डमैडलिस्ट जानता है कि अम्मा के आशीर्वाद से कुछ नहीं हुआ। मैंने जो दिन-रात पढाई की है, उसकी वजह से यह कमाल

हुआ है; लेकिन व्यवहार की भाषा में ऐसा ही बोला जाता है। ऐसा नहीं कहा जाता है कि तेरे आशीर्वाद से क्या होता है ?

बोलने की भाषा ऐसी ही है और यह बात अम्मा भी जानती है कि मेरे आशीर्वाद से कुछ नहीं हुआ। मेरा दूसरा बेटा इसी का छोटा भाई फ़ैल हो गया और आशीर्वाद तो मैंने उसे भी कम नहीं दिया था।

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि कौआ के कोसे ढोर नहीं मरते और अम्मा के आशीर्वाद से कोई पास नहीं होता। अपनी-अपनी योग्यता और अपनी मेहनत से ही सबकुछ होता है; क्योंकि दो द्रव्यों के बीच में वज्र की दीवार खड़ी है।

जब मेरे कहने से परद्रव्य में कुछ होता ही नहीं तो उसके कारण मुझे बंध भी क्यों हो ? वह हमारे कारण मरा ही नहीं, फिर हमें बंध क्यों हो ? अरे भाई ! जो बंध हुआ है, वह तो रागादिभाव के कारण हुआ है।

यदि ऐसा है तो शास्त्रों में ऐसा क्यों लिखा है कि किसी जीव को मत मारो ? अरे भाई ! यह तो भाषा है, उसका वास्तविक अर्थ यह है कि मारने का भाव मत करो; क्योंकि मारने की क्रिया मारने के भाव के बिना नहीं होती।

इसलिए अगले कलश में लिखा है कि तथापि न निर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां हूँ फिर भी ज्ञानी जीव को अनर्गल प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए; क्योंकि जो क्रिया होती है, वह भावपूर्वक ही होती है और अज्ञानी की क्रिया तो विपरीत मान्यतापूर्वक ही होती है।

इसलिए मान्यता और भाव, बंध के कारण हैं; क्रिया रंचमात्र भी बंध का कारण नहीं है।

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में अत्यन्त संक्षेप में इसप्रकार किया गया है हूँ

“मैं परजीवों को मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं हूँ ऐसा अध्यवसाय (मिथ्या अभिप्राय) नियम से अज्ञान है। वह अध्यवसाय जिसके है, वह

अज्ञानीपनेकेकारण मिथ्यादृष्टि है और वह अध्यवसाय जिसके नहीं है, वह ज्ञानीपनेकेकारण सम्यग्दृष्टि है।

वस्तुतः जीवों का मरण तो अपने आयुर्कर्म के क्षय से ही होता है; क्योंकि अपने आयुर्कर्म के क्षय के अभाव में मरण होना अशक्य है तथा किसी के द्वारा किसी के आयुर्कर्म का हरण अशक्य है; क्योंकि वह आयुर्कर्म अपने उपभोग से ही क्षय होता है।

इसप्रकार कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति का मरण किसी भी प्रकार से नहीं कर सकता है। इसलिए मैं परजीवों को मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं हूँ ऐसा अध्यवसाय ध्रुवरूप से अज्ञान है।

इसीप्रकार परजीवों को मैं जिलाता हूँ और परजीव मुझे जिलाते हैं हूँ इसप्रकार का अध्यवसाय भी ध्रुवरूप से अज्ञान है। यह अध्यवसाय जिसके है, वह जीव अज्ञानीपने के कारण मिथ्यादृष्टि है और जिसके यह अध्यवसाय नहीं है, वह ज्ञानीपने के कारण सम्यग्दृष्टि है।

जीवों का जीवन अपने आयुर्कर्म के उदय से ही है; क्योंकि अपने आयुर्कर्मके उदय के अभाव में जीवित रहना अशक्य है। अपना आयुर्कर्म कोई किसी को दे नहीं सकता; क्योंकि वह स्वयं के परिणाम से ही उपार्जित होता है; इसकारण कोई किसी भी प्रकार से किसी का जीवन नहीं कर सकता है।

इसलिए मैं पर को जिलाता हूँ और पर मुझे जिलाते हैं हूँ इसप्रकार का अध्यवसाय ध्रुवरूप से अज्ञान है।”

इन गाथाओं में तीर्थंकर परमात्मा की साक्षीपूर्वक यह बात अत्यन्त स्पष्टरूप से कही गई है कि जो व्यक्ति यह मानता है कि मैं दूसरों को मारता हूँ या दूसरे मुझे मारते हैं; मैं दूसरों की रक्षा करता हूँ या दूसरे मेरी रक्षा करते हैं; मैं दूसरों को सुखी-दुःखी करता हूँ या दूसरे मुझे सुखी-दुःखी करते हैं; वह व्यक्ति मूढ है, अज्ञानी है; तथा ज्ञानियों की मान्यता इससे विपरीत होती है। तात्पर्य यह है कि एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता मानना अज्ञान है, मिथ्यात्व है।

इस महान सिद्धान्त को जगत के समक्ष रखते हुए आचार्यदेव ने करणानुयोग को आधार बनाकर जो वजनदार युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, वे अपने आप में अद्भुत हैं, अकाट्य हैं।

अपनी बात को सिद्ध करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि जब सौ इन्द्रों की उपस्थिति में, चार ज्ञान के धारी गणधरदेव की उपस्थिति में तीर्थंकर परमात्मा अरहंतदेव ने अपनी दिव्यध्वनि में डंके की चोट पर यह बात कही है कि जगत का प्रत्येक प्राणी अपने आयुर्कर्म के क्षय से मरण को प्राप्त होता है और आयुर्कर्म के उदय से ही जीवित रहता है तो फिर कोई किसी के जीवन-मरण का उत्तरदायी कैसे हो सकता है ?

जब तुम किसी के आयुर्कर्म का हरण नहीं कर सकते हो तो फिर उसे मार भी कैसे सकते हो ? इसीप्रकार जब कोई अन्य व्यक्ति तुम्हारे आयुर्कर्म का हरण नहीं कर सकता है तो वह तुम्हें भी कैसे मार सकता है ?

यही बात जीवन के संदर्भ में भी कही जा सकती है। जब प्रत्येक प्राणी अपने आयुर्कर्म के उदय से जीवित रहता है और जब तुम किसी को आयुर्कर्म दे नहीं सकते हो तो फिर तुम उसकी रक्षा भी किसप्रकार कर सकते हो ? इसीप्रकार जब कोई अन्य व्यक्ति तुम्हें आयुर्कर्म नहीं दे सकता है तो फिर वह तुम्हारी रक्षा भी किसप्रकार कर सकता है ?

इसीप्रकार सुख-दुःख के संदर्भ में भी घटित कर लेना चाहिए।

प्रत्येक जीव अपने शुभकर्म के उदयानुसार लौकिक सुख प्राप्त करता है, अनुकूल संयोग प्राप्त करता है और अपने अशुभकर्म के उदय के अनुसार दुःख प्राप्त करता है, प्रतिकूल संयोग प्राप्त करता है। यह परमसत्य जिनेन्द्र भगवान की वाणी में आया है।

जब तुम किसी को भी शुभाशुभकर्म नहीं दे सकते हो तो उसे सुखी-दुःखी भी कैसे कर सकते हो ? इसीप्रकार जब कोई तुम्हें शुभाशुभ कर्म नहीं दे सकता है तो वह तुम्हें भी सुखी-दुःखी कैसे कर सकता है ?

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्राणी अपने सुख-दुःख एवं जीवन-

मरण का कर्ता-धर्ता-हर्ता स्वयं ही है, अपने भले-बुरे का उत्तरदायी भी पूर्णतः स्वयं ही है।

इस परमसत्य से अपरिचित होने के कारण ही अज्ञानीजन अपने सुख-दुःख एवं जीवन-मरण का कर्ता-हर्ता अन्य जीवों को मानकर अकारण ही उनसे राग-द्वेष किया करते हैं। अज्ञानी के यह राग-द्वेष-मोह परिणाम ही उसके अनन्त दुःखों के मूल कारण हैं।

पर में ममत्व एवं कर्तृत्वबुद्धि से उत्पन्न इन मोह-राग-द्वेष परिणामों को जड़मूल से उखाड़ पैंक्वने वाले इस महासिद्धान्त को जगत के सामने रखकर आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने हम सबका महान उपकार किया है।

जगतजनों के जीवन का सर्वाधिक समय इसी चिंता और आकुलता-व्याकुलता में जाता है कि कोई हमें मार न डाले, दुःखी न कर दे; मैं पूर्ण सुरक्षित रहूँ, जीवित रहूँ, सुखी रहूँ।

अपनी सुरक्षा के उपायों में ही हमारी सर्वाधिक शक्ति लग रही है, बुद्धि लग रही है, श्रम लग रहा है। अधिक क्या कहें ह्व हमारा सम्पूर्ण जीवन ही इसी के लिए समर्पित है, इसी चिन्ता में बीत रहा है।

पड़ौसी पड़ौसी से आतंकित है, आशंकित हैं; एक-दूसरे के विरुद्ध षडयंत्र रचने में संलग्न है, सुरक्षा के नाम पर विनाश की तैयारी में मग्न है; निराकुलता और शान्ति किसी के भी जीवन में दिखाई नहीं देती।

इस मूढ़ जगत ने अपनी सुरक्षा के नाम पर संसार के विनाश की इतनी सामग्री तैयार कर ली है कि यदि उसका शतांश भी उपयोग में आ जावे तो सम्पूर्ण मानव जाति ही समाप्त हो सकती है।

आश्चर्य और मजे की बात तो यह है कि हमने इस मारक क्षमता का विकास सुरक्षा के नाम पर किया है, यह सब अमरता के लिए की गई मृत्यु की ही व्यवस्था है।

घटिया माल को बढ़िया पेकिंग में प्रस्तुत करने का अभ्यस्त यह जगत हिंसक कार्यों के लिए भी अहिंसक शब्दावली प्रयोग करने में इतना माहिर हो गया है कि मछलियाँ मारने का काम भी मत्स्यपालन

उद्योग के नाम से करता है, कीटाणुनाशक (एन्टी वाइटिक्स) दवाओं को भी जीवनरक्षक दवाइयाँ कहता है।

इसप्रकार यह जगत हथियारों का अंबार लगाकर अपने को सुरक्षित करना चाहता है; पर भाई हथियार तो मृत्यु के उपकरण हैं, जीवन के नहीं; इस सामान्य तथ्य की ओर आपका ध्यान क्यों नहीं जाता ?

हथियारों के प्रयोग से आजतक किसी का जीवन सुरक्षित तो हुआ नहीं, मौत का ताण्डव अवश्य हुआ है।

इससे तो यही सिद्ध होता है कि शस्त्र सुरक्षा के साधन नहीं हैं; अपितु मौत के ही मौन आमंत्रण हैं; क्योंकि जिनके पास हथियार नहीं होते, वे हथियारों से नहीं मरते; पर जिनके पास हथियार होते हैं, वे प्रायः हथियारों से ही मारे जाते हैं।

इसप्रकार यह सुनिश्चित है कि हथियार सुरक्षा के साधन नहीं, मौत के ही सौदागर हैं। फिर भी कुछ लोग कहते हैं कि हमारे हथियारों के भय से हम पर कोई आक्रमण करने की हिम्मत ही नहीं करेगा, अतः हम सुरक्षित रहेंगे। ऐसा सोचनेवालों से मेरा कहना यह है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि तुम्हारे शस्त्रों के भय से तुम पर कोई आक्रमण नहीं करेगा; पर जब तुम स्वयं बीमार होकर मरोगे, तब क्या होगा ?

इस आशंका से आकुल-व्याकुल इस जगत ने अनेक प्रकार की औषधियों का निर्माण किया है। 'कोई मार न दें' ह्व इस आशंका से एक प्रकार की गोलियाँ (अणुबम) बनाई हैं तो 'बीमारियों से स्वयं ही न मर जावें' ह्व इस भय से दूसरे प्रकार की गोलियों (दवाइयाँ) बनाई हैं। जीवन रक्षक (एन्टीबाइटिक्स) दवाइयों का उत्पादन इसकी इसी आकांक्षा का परिणाम है।

इसप्रकार यह स्वयं को गोलियों के बल पर मरण भय से मुक्त करना चाहता है, पर आजतक तो इसमें किसी को सफलता प्राप्त हुई नहीं है; क्योंकि अभी तक तो कोई सदेह अमर नहीं हो पाया है। लाखों लोगों को दम तोड़ते हम प्रतिदिन देखते ही हैं।

इसीप्रकार सुखी रहने और दुःख दूर करने के लिए भी इसने दर्दनाशक दवाइयों का निर्माण किया है। खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना, सभी प्रकार के भोगों को भोगना एवं भोगसामग्री इकट्ठी करना भी इसकी इसी आकांक्षा के परिणाम हैं।

पर इतना सब-कुछ कर लेने के बाद भी न तो यह अमर ही हो सका है और न सुखी ही; क्योंकि अमर और सुखी होने का जो रास्ता इस जगत ने चुना है, वह सम्यक् नहीं है। न तो शस्त्र सुरक्षा के साधन ही हैं और न दवाइयाँ दुःख दूर करने में समर्थ हैं; क्योंकि न तो वे लोग सुरक्षित ही दिखाई देते हैं, जो शस्त्रों की सुरक्षा में रहते हैं और न वे सुखी ही दिखाई देते हैं, जो प्रतिदिन दस-पाँच गोलियाँ तो खाते ही हैं।

शस्त्रों से सुरक्षा की बात तो स्पष्ट हो चुकी है, रही बात जीवन रक्षक दवाइयों से सुरक्षा एवं दर्दनाशक दवाइयों से सुखी होने की बात।

सो भाई ! भारतवर्ष में ऐसे अनेक नग्न दिगम्बर संत मिलेंगे, जिन्होंने जीवन में एक भी गोली नहीं खाई होगी। दिन में एक बार शुद्ध सात्त्विक आहार लेनेवाले, दूसरी बार जल का बिन्दु भी ग्रहण नहीं करनेवाले वीतरागी संत सौ-सौ वर्ष की आयु पर्यन्त पूर्ण स्वस्थ दिखाई देते हैं और अपनी पूर्ण आयु को चलते-फिरते आत्मसाधना में रत रहते आनन्द से भोगते हैं; जबकि प्रतिदिन अनेक गोलियाँ खानेवाले, दिन-रात भक्ष्य-अभक्ष्य पौष्टिक पदार्थ भक्षण करनेवाले जगतजन भरी जवानी में ही जवाब देने लगते हैं।

इसप्रकार यह अत्यन्त स्पष्ट है कि न तो हथियार सुरक्षा के साधन हैं, और न ही भोगोपभोग सामग्री तथा औषधियाँ सुखी होने का वास्तविक उपाय है; आयुकर्म का उदय जीवन का आधार है और शुभकर्मों का उदय लौकिक सुखों का साधन है।

ये कर्म भी जीव स्वयंकृत शुभाशुभ भावों के अनुसार स्वयं ही बाँधता है। इसप्रकार यह प्राणी अपने जीवन-मरण और सुख-दुःख

का पूर्ण उत्तरदायी स्वयं ही है, अन्य किसी का इसमें रंचमात्र भी हस्तक्षेप नहीं है।

इसी बात को यहाँ बड़ी दृढ़ता से प्रस्तुत किया गया है कि जो यह मानते हैं कि मैं दूसरों को मारता हूँ या उनकी रक्षा करता हूँ अथवा दूसरे मुझे मारते हैं या वे मेरी रक्षा करते हैं; वे मूढ़ हैं, अज्ञानी हैं; और ज्ञानी इसके विपरीत हैं, क्योंकि ज्ञानी ऐसा नहीं मानता वह तो यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने सुख-दुःख और जीवन-मरण का पूर्ण उत्तरदायी स्वयं ही है, कोई किसी के जीवन-मरण और सुख-दुःख का कर्ता-हर्ता-धर्ता नहीं है।

दूसरों को मारने, बचाने या दुःखी-सुखी करने के विकल्प में उलझे अथवा कोई मुझे मार न दे, दुःखी न कर दे, इस कल्पना से भयाक्रान्त अथवा कोई मुझे बचा ले या सुखी कर दे हूँ इस भावना से दीन-हीन इस जगत को समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई ! तू एक बार गंभीरता से विचार तो कर कि क्या तेरी आयु शेष रहते कोई तुझे मार सकता है, आयु समाप्त हो जाने पर भी क्या कोई तुझे बचा सकता है, अशुभ कर्मों का उदय रहते क्या तुझे कोई सुखी कर सकता है तथा शुभकर्मों का उदय विद्यमान होने पर भी क्या तुझे कोई दुःखी कर सकता है ? यदि नहीं तो फिर व्यर्थ ही भयाक्रान्त होता है, दीन-हीन होकर किसी के सामने गिड़गिड़ाता भी क्यों है ?

अनिर्णय की स्थिति में पड़े हुए संशयग्रस्त प्राणी के भय और दीनता का एक ही कारण है और वह है अन्य को अपने जीवन-मरण और सुख-दुःख का कारण मानना। इसीप्रकार इसके अभिमान का कारण भी यह मान्यता है कि मैं दूसरों को मार सकता हूँ, बचा सकता हूँ, सुखी-दुःखी कर सकता हूँ।

‘मैं दूसरों को मार सकता हूँ हूँ इस मान्यता से उत्साहित होकर यह दूसरों को धमकाता है, अपने आधीन करना चाहता है। इसीप्रकार ‘मैं दूसरों को बचा सकता हूँ हूँ इस मान्यता के आधार पर भी

दूसरों को अपने आधीन करना चाहता है। सुखी-दुःखी कर सकने की मान्यता के आधार से भी इसीप्रकार की प्रवृत्तियाँ विकसित होती हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि पर में हस्तक्षेप करने की कुत्सित भावना ही इसके मन को अशान्त करती है, आकुल-व्याकुल करती है, दीन-हीन बनाती है।

यदि हम चाहते हैं कि हमारा चित्त अशांत न हो, आकुल-व्याकुल न हो, भयाक्रान्त न हो, दीन-हीन न हो तो हमें आचार्य कुन्दकुन्द की उक्तपंक्तियों पर गहराई से विचार करना चाहिए, चिन्तन करना चाहिए, मनन करना चाहिए।

किसी अन्य के कुछ करने-धरने से तो हमारा हित-अहित होता ही नहीं है, किसी के आशीर्वाद और शाप से भी कुछ नहीं होता।

लोक में कहावत है कि 'कौओं के कोसने से ढोर (पशु) नहीं मरते' यदि कौओं के कोसने से पशु मरने लग जावें तो जगत में एक भी पशु का बचना संभव नहीं है; क्योंकि लोक में कोसनेवाले कौओं की कमी नहीं है।

आशीर्वाद के संदर्भ में भी यही बात है। प्रत्येक माँ अपने प्रत्येक बालक को अत्यन्त पवित्र हृदय से भरपूर आशीर्वाद देती है, पर एक ही माँ का एक बालक विश्वविद्यालय में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करता है और दूसरा अनुत्तीर्ण हो जाता है। एक जिलाधीश बन जाता है और दूसरे को चपरासी बनना पड़ता है। यदि माँ के आशीर्वाद से कुछ होता हो तो दोनों बालकों को एक-सा फल प्राप्त होना चाहिए, पर ऐसा देखने में नहीं आता।

सच्ची बात तो यह है कि यदि आशीर्वाद से कुछ होने की बात होती तो किसी का भी कुछ भी अनिष्ट होने की संभावना ही समाप्त हो जाती; क्योंकि प्रत्येक माँ अपने प्रत्येक बेटे को भरपूर आशीर्वाद देती ही है।

इससे ही प्रतिफलित होता है कि प्रत्येक व्यक्ति के सुख-दुःख व जीवन-मरण उसके स्वयं के कर्मनुसार ही होते हैं।

'जैसा करोगे, वैसा भरोगे' की सूक्ति को सार्थक करनेवाला आचार्य कुन्दकुन्द का यह कथन लोगों को अपने आचरण सुधारने की भी पावन प्रेरणा देता है। श्रद्धा ही आचरण को दिशा प्रदान करती है। जबतक हमारी श्रद्धा ही सम्यक् न होगी, तबतक आचरण भी सम्यक् होना संभव नहीं है।

जबतक छात्रों की श्रद्धा यह रहेगी कि पढ़ने से क्या होता है, विश्वविद्यालय में सर्वोच्च स्थान तो प्राध्यापकों की कृपा से ही प्राप्त होता है; तबतक छात्रों का मन पढ़ने में कैसे लगेगा? वे तो प्राध्यापकों को प्रसन्न करने के लिए उनके घरों के ही चक्कर काटेंगे।

जबतक कोई लिपिक यह मानता रहेगा कि काम करने से क्या होता है, पदोन्नति तो अधिकारियों से प्रसन्न होने पर ही होगी; तबतक उसका मन काम करने में कैसे लगेगा, वह तो अधिकारियों की सेवा में ही संलग्न रहेगा।

जबतक व्यापारी यह समझते रहेंगे कि ईमानदारी से आजतक कोई करोड़पति नहीं बना, करोड़पति बनने के लिए तो ऊँचा-नीचा करना ही पड़ता है; तबतक कोई व्यापारी ईमानदारी के चक्कर में क्यों पड़ना चाहेगा, वह तो ऊँचा-नीचा करने में ही व्यस्त रहेगा।

जबतक मुख्यमंत्री यह समझते रहेंगे कि जनता की सेवा करने से क्या होता है, कुर्सी तो तभी तक सुरक्षित है, जबतक प्रधानमंत्री प्रसन्न है; तबतक कोई मुख्यमंत्री जनता की समस्यायें सुलझाने में क्यों माथा मारेगा, वह तो प्रधानमंत्री को प्रसन्न करने के लिए दिल्ली में ही डटा रहेगा।

इसप्रकार हम देखते हैं कि मिथ्या श्रद्धा के कारण, गलत विश्वास के कारण, उल्टी मान्यता के कारण आज देश की क्या दुर्गति हो रही

है। यदि यह श्रद्धा पलट जावे तो चन्द दिनों में ही देश का नक्शा पलट सकता है।

छात्र यह सोचने लगे कि प्राध्यापकों के घर के चक्कर काटने से क्या होता है, विश्वविद्यालय में सर्वोच्च स्थान तो सर्वाधिक अध्ययन करनेवाले छात्र को ही प्राप्त होगा।

लिपिक यह सोचने लगे कि अधिकारियों के चक्कर काटने से क्या होता है, पदोन्नति तो अच्छा काम करने से ही होगी।

व्यापारी यह सोचने लगे कि बेईमानी से स्थाई लाभ प्राप्त नहीं किया जा सकता है; क्योंकि काठ की हाँडी बार-बार नहीं चढ़ती, किसी-किसी को और कभी-कभी ही धोखा दिया जा सकता है, सभी को सदाकाल धोखे में रखना संभव नहीं है। यदि स्थाई लाभ प्राप्त करना है तो ईमानदारी से ही काम करना होगा।

मुख्यमंत्री भी यह समझने लगे कि प्रधानमंत्री की चापलूसी से क्या होता है, पद तो तभी तक सुरक्षित है, जबतक जनता जनार्दन चाहेगी।

बस, इतना विवेक जागृत होते ही, श्रद्धा पलटते ही छात्र प्राध्यापकों के घर के चक्कर नहीं काटेंगे, पढ़ेंगे; लिपिक अधिकारियों की गुलामी नहीं करेंगे, काम करेंगे; व्यापारी भी बेईमानी न करेंगे, ईमानदारी से व्यापार करेंगे और मुख्यमंत्री दिल्ली में ही नहीं जमे रहेंगे, अपने प्रान्त में ही रहकर जनता की सेवा करेंगे; उनकी समस्याएँ सुनेंगे, समझेंगे, सुलझायेंगे। जिस दिन ऐसा होगा, उस दिन देश का नक्शा बदल जायेगा।

इसीप्रकार जबतक यह आत्मा यह मानता रहेगा कि मैं दूसरों को मारता हूँ, सुखी-दुःखी करता हूँ या दूसरे मुझे मारते हैं, बचाते हैं, सुखी-दुःखी करते हैं, तबतक दूसरों से राग-द्वेष-मोह भी करता रहेगा।

कर्तृत्व के अभिमान में ग्रस्त यह आत्मा या तो दूसरों को डरायेगा, धमकायेगा; उन्हें अपने आधीन रखना चाहेगा; नहीं रहने पर स्वयं खेदखिन्न होगा, दुखी होगा, संतप्त होगा और तनावग्रस्त हो जायेगा या फिर पराधीनता की वृत्ति से दूसरे से डरेगा, उनकी चापलूसी करेगा, उनकी गुलामी करेगा, उनके प्रसन्न न होने पर खेद-खिन्न होगा और दीन-हीन होकर तनावग्रस्त हो जायेगा।

पर यदि यह आत्मा आचार्य कुन्दकुन्द के निर्देशानुसार यह स्वीकार कर ले, यह श्रद्धान कर ले कि न तो मैं किसी को मार-बचा सकता हूँ और न सुखी-दुखी ही कर सकता हूँ तथा न अन्य कोई मुझे मार-बचा सकता है, न सुखी-दुखी ही कर सकता है तो सर्वप्रकार के तनावों से मुक्त हो जायेगा, सहज हो जायेगा, सरल हो जायेगा; सर्वप्रकार से निश्चिन्त हो जायेगा।

कुछ लोग कहते हैं कि जनसामान्य के सामने इस परमसत्य का उद्घाटन करके आचार्यदेव उनसे क्या अपेक्षा करते हैं? तात्पर्य यह है कि उनके इस प्रतिपादन का जन-सामान्य को क्या लाभ है?

आचार्यदेव कहते हैं कि जनसामान्य के सामने इस परमसत्य के उद्घाटन से तो प्रत्येक प्राणी को लाभ ही लाभ है। तनाव की कमी होना भी अपने आप में एक उपलब्धि है, जो इस परमसत्य को समझने से निश्चितरूप से कम होता है।

दूसरी बात यह है कि इस जगत के भोले प्राणी अपने भले-बुरे की जिम्मेदारी पड़ोसियों पर डालकर व्यर्थ ही उनसे राग-द्वेष किया करते हैं, यदि वे इस सत्य को हृदयंगम कर लें तो उनका पड़ोसियों से बैरभाव निश्चितरूप से कम होगा।

यह सत्य हम सबके ख्याल में अच्छी तरह आ जावे तो व्यर्थ में ही होने वाले अनन्त राग-द्वेषों से बचा जा सकता है।

दूसरों के सोचने, कहने और करने से हमारा कुछ भी भला-बुरा नहीं होता, हमारा भला-बुरा पूर्णतः हमारे कर्मनुसार ही होता है।

अतः राग-द्वेष कम करने का सरलतम उपाय अपने सुख-दुःख का कारण अपने में ही खोजना है, मानना है, जानना है।

यह कैसे संभव है कि हमारे पाप का उदय हो और हमें कोई सुखी कर दे? इसीप्रकार यह भी कैसे संभव है कि हमारे पुण्य का उदय हो और हमें कोई दुखी कर दे? यदि ऐसा होने लग जावे तो फिर स्वयंकृत पाप-पुण्य का क्या महत्त्व रह जायेगा?

उक्त संदर्भ में आचार्य अमितगति का निम्नांकित कथन ध्यान देने योग्य है।

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीय लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं;
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥
निजार्जित कर्म विहाय देहिनो,
न कोपि कस्यापि ददाति किञ्चिन्।
विचायन्नेवमनन्यमानसः;
परो ददातीति विमुच्च शेमुषीम् ॥

इस जीव के द्वारा पूर्व में जो शुभ और अशुभ कर्म किये गये हैं, उनका ही फल उसे वर्तमान में प्राप्त होता है। यह बात पूर्णतः सत्य है; क्योंकि यदि यह माना जाय कि सुख-दुःख दूसरों के द्वारा दिये जाते हैं तो फिर स्वयं किये गये संपूर्ण कर्म निरर्थक सिद्ध होंगे।

अपने द्वारा किये गये कर्मों को छोड़कर इस जीव को कोई भी कुछ नहीं देता। जो कुछ भी सुख-दुःख इसे प्राप्त होते हैं, वे सब इसके ही शुभाशुभ कर्मों के फल हैं। इसलिए मन को अन्यत्र न भटका कर, अनन्य मन से इस बात का विचार करके पक्का निर्णय करके हे भव्यात्मा! 'सुख-दुःख दूसरे देते हैं' हूँ इस विपरीत बुद्धि को छोड़ दो।

यदि हम जीवन भर पाप करते रहें, फिर भी कोई हमें उन पाप

कर्मों के फल भोगने से बचा ले, दुःखी न होने दे, सुखी कर दे तो फिर हम पाप करने से डरेंगे ही क्यों? बस किसी भी तरह हो, उसे ही प्रसन्न करने में जुटे रहेंगे; क्योंकि सुख-दुःख का संबंध अपने कर्मों से न रहकर पर की प्रसन्नता पर आधारित हो गया। यह मान्यता तो पाप को प्रोत्साहित करनेवाली होने से पाप ही है।

इसीप्रकार यदि हम जीवन भर पुण्य कार्य करें, फिर भी कोई हमें दुःखी कर दे तो फिर हम सुखी होने के लिए पुण्य कार्य क्यों करेंगे? बस उसकी ही सेवा करते रहेंगे, किसी भी प्रकार क्यों न हो, उसे ही प्रसन्न रखेंगे।

बुरे कार्य करने में हतोत्साहित एवं अच्छे कार्य करने में प्रोत्साहित तो यह जीव तभी होगा, जबकि उसे इस बात का पूरा भरोसा हो कि बुरे कार्य का बुरा फल और अच्छे कार्य का अच्छा फल निश्चितरूप से भोगना ही होगा।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को लौकिक अनुकूलता एवं प्रतिकूलता अपने-अपने कर्मोदयानुसार ही प्राप्त होती है; उसमें किसी का भी, यहाँ तक कि किसी सर्वशक्तिमान भगवान का भी हस्तक्षेप संभव नहीं और यही न्यायसंगत भी है।

'मैं दूसरों को मारता हूँ या बचाता हूँ अथवा सुखी-दुःखी करता हूँ' हूँ हूँ यह मान्यता अभिमान की जननी है और 'दूसरे जीव मुझे मारते हैं, बचाते हैं, सुखी-दुःखी करते हैं' हूँ हूँ यह मान्यता दीनता पैदा करती है, भयाक्रान्त करती है, अशांत करती है, आकुलता-व्याकुलता पैदा करती है।

अतः यदि हम अभिमान से बचना चाहते हैं, दीनता को समाप्त करना चाहते हैं, आकुलता-व्याकुलता और अशांति से बचना चाहते हैं, निर्भर होना चाहते हैं तो उक्त मिथ्या मान्यता को तिलांजलि दे देना ही श्रेयस्कर है, जड़मूल से उखाड़ फेंकना ही श्रेयस्कर है हूँ सुखी और शांत होने का एकमात्र यही उपाय है। ●

है बंध अध्यवसान से

(५३)

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥

(हरिगीत)

मारो न मारो जीव को हो बंध अध्यवसान से।
यह बंध का संक्षेप है तुम जान लो परमार्थ से ॥

जीवों को मारो अथवा न मारो, कर्मबंध तो मात्र अध्यवसान (मोह-राग-द्वेष) से ही होता है। निश्चयनय से जीवों के बंध का स्वरूप संक्षेप में यही है।

यह गाथा समयसार परमागम की २६२वीं गाथा है। इस गाथा में यह बताया गया है कि हमें हिंसा से बचने के लिए, बंध से बचने के लिए अध्यवसान भावों से बचना चाहिए।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया है

“अपने कर्मों की विचित्रता के वश से परजीवों के प्राणों का व्यपरोपण (उच्छेद-वियोग) कदाचित् हो, कदाचित् न भी हो; तो भी ‘मैं मारता हूँ’ हूँ ऐसा अहंकाररस से भरा हुआ हिंसा का अध्यवसाय ही निश्चय से उसके बंध का कारण है; क्योंकि निश्चय से पर के प्राणों का व्यपरोपणरूप परभाव किसी अन्य के द्वारा किया जाना शक्य नहीं है।”

यहाँ आचार्यदेव अति संक्षेप में यह कहना चाहते हैं कि बंध की संक्षिप्त-सी कहानी मात्र इतनी ही है कि यदि तेरे हृदय (आत्मा) में अध्यवसानभाव उत्पन्न हो गये; ‘मैं परजीवों को मार सकता हूँ, बचा सकता हूँ, सुखी-दुःखी कर सकता हूँ’ हूँ ऐसी मान्यतापूर्वक मारने-बचाने या सुखी-दुःखी करने के भाव हो गये तो फिर तुझे बंध होगा ही;

क्योंकि तेरे बंध का संबंध तेरे अध्यवसानों से ही है, अन्य जीवों के मरने-जीने या सुखी-दुःखी होने से नहीं।

अन्य जीवों का जीवन-मरण और सुख-दुःख तो अनेकप्रकार की विचित्रता को लिये हुए उनके जो पूर्वोपात्त कर्म हैं, उन कर्मों के उदयानुसार उनकी विभिन्नप्रकार की पर्यायगत योग्यता से होते हैं। उनमें तेरे इन विकल्पों का, अध्यवसानभावों का कुछ भी योगदान नहीं है।

यही कारण है कि यहाँ आचार्यदेव डंके की चोट कह रहे हैं कि जीव मरे, चाहे न मरे; सुखी-दुःखी हो, चाहे न हो; पर यदि अध्यवसानभाव हैं तो बंध अवश्य होगा। बंध की प्रक्रिया का संक्षिप्त सार यही है।

बंध का संबंध परजीवों के जीवन-मरण से न होकर जीव के स्वयं के मोह-राग-द्वेष परिणामों से है। अतः बंध से बचने के लिए अपने परिणामों की संभाल अधिक आवश्यक है। ●

भाई ! ये बननेवाले भगवान की बात नहीं, यह तो बने-बनाये भगवान की बात है। स्वभाव की अपेक्षा तुझे भगवान बनना नहीं है, अपितु स्वभाव से तो तू बना-बनाया भगवान ही है हूँ ऐसा जानना-मानना और अपने में ही जम जाना, रम जाना पर्याय में भगवान बनने का उपाय है। तू एक बार सच्चे दिल से अन्तर की गहराई से इस बात को स्वीकार तो कर; अन्तर की स्वीकृति आते ही तेरी दृष्टि परपदार्थों से हटकर सहज ही स्वभाव-सन्मुख होगी, ज्ञान भी अन्तरोन्मुख होगा और तू अन्तर में ही समा जायेगा, लीन हो जायेगा, समाधिस्थ हो जायेगा। ऐसा होने पर तेरे अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का ऐसा दरिया उमड़ेगा कि तू निहाल हो जावेगा, कृतकृत्य हो जावेगा। एकबार ऐसा स्वीकार करके तो देख। हूँ आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-८३

जीव मरें चाहे जियें

(५४)

मरदुव जियदुव जीवो अयदाचारस्य णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥

(हरिगीत)

प्राणी मरें या न मरें हिंसा अयत्नाचार से ।
तब बंध होता है नहीं जब रहें यत्नाचार से ॥

जीव मरें या जियें, किन्तु असावधानीपूर्वक आचरण करनेवालों को हिंसा निश्चित ही है; क्योंकि सावधानीपूर्वक समितियों का पालन करनेवाले को बहिरंग द्रव्यहिंसा मात्र से बंध नहीं होता ।

यह गाथा प्रवचनसार शास्त्र की २१७वीं गाथा है । इसमें बताया गया है कि जीव मरे चाहे न मरे, पर अयत्नाचार प्रवृत्ति वाले के हिंसा होती ही है और यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले के मात्र बाह्य हिंसा से बंध नहीं होता ।

बंध का सम्बन्ध जितना अनर्गलप्रवृत्ति से है, उतना जीवों के मरने-जीने से नहीं । अतः बंध से बचने के लिए अनर्गलप्रवृत्ति से बचना चाहिए ।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“अशुद्धोपयोग अंतरंग छेद है और परप्राणों का व्यपरोपण (विच्छेद) बहिरंग छेद है । इनमें अंतरंग छेद ही बलवान है, बहिरंग नहीं ।

परप्राणों का छेद हो या न हो, अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होनेवाले असावधानीपूर्वक आचरण से जानने में आनेवाले अशुद्धोपयोग का सद्भाव जिसके पाया जाता है, उसके हिंसा का सद्भाव सुनिश्चित है ।

अपने आत्मा में लीनतारूप निश्चय प्राणों के विनाश की कारणभूत रागादि परिणति निश्चय हिंसा है और रागादि की उत्पत्ति से बाह्य में

निमित्तभूत परजीवों का घात व्यवहार हिंसा है । इसप्रकार हिंसा दो प्रकार की होती है ।

विशेष यह है कि बाह्य हिंसा हो या न हो स्वस्थभावना (आत्म-लीनता) रूप निश्चय प्राणों का घात होने पर निश्चय हिंसा नियम से होती है; इसलिए निश्चय हिंसा ही मुख्य है ।”

जो मुनिराज अन्तर में अशुद्धोपयोगरूप वर्तन कर रहे हों; वे अपने शुद्धस्वभाव के घातक होने से प्रबल हिंसक हैं और जो मुनिराज असावधानीपूर्वक आचरण कर रहे हैं, उनसे पर जीवों का घात होवे, चाहे न हो; तो भी वे अयत्नाचारी होने से अन्तर में अपनी हिंसा कर रहे हैं । अतः निश्चय से उनके मुनि पद का भंग ही है ह यह सुनिश्चित करो ।

जो मुनिराज शुद्धोपयोग से युक्त होकर अपने ज्ञान प्राणों की निरन्तर रक्षा करते हैं; उनकी समस्त शारीरिक क्रियायें समितिरूप होती हैं; ऐसी स्थिति में कदाचित जीवों का मरण भी हो जावे तो भी बंध नहीं होता ।

उक्त गाथा और उसकी टीकाओं में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि हिंसा और अहिंसा का संबंध जीवों के जीवन और मरण से नहीं है; अपितु अपने उपयोग की शुद्धता-अशुद्धता से है ।

पहली बात तो यह है कि आध्यात्मिक दृष्टिकोण से शुभाशुभभाव रूप अशुद्धोपयोग शुद्धोपयोग का घातक होने से, रागादिभावरूप होने से हिंसा ही है ।

दूसरी बात यह है कि चाहे जीव मरें या न मरें, पर अयत्नाचार (असावधानी) पूर्वक प्रवृत्ति करनेवालों को बंध अवश्य होता है ।

तीसरी बात यह है कि सावधानीपूर्वक आगमानुसार प्रवृत्ति करनेवालों के निमित्त से कदाचित् जीवों का घात भी क्यों न हो जावे; तब भी उन्हें जीवों के घात के कारण रंचमात्र भी बंध नहीं होता ।

निष्कर्ष की बात यह है कि हिंसा-अहिंसा का संबंध जीवों के जीने-मरने से नहीं है; अयत्नाचार से है; इसलिए हिंसा से बचने के लिए हमें यत्नाचार पूर्वक रहना चाहिए । ●

द्रव्य का लक्षण

(५५)

द्वं सल्लक्ष्णियं उप्पादव्यधुवत्तसंजुत्तं ।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥

(हरिगीत)

उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्त सत् सत् द्रव्य का लक्षण कहा ।
पर्याय-गुणमय द्रव्य है ह्व यह वचन जिनवर ने कहा ॥

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त सत् जिसका लक्षण है और जिसमें गुण व पर्यायें पाई जाती हैं, उसे सर्वज्ञ भगवान द्रव्य कहते हैं ।

तात्पर्य यह है कि द्रव्य का लक्षण सत् है और सत् उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है । अथवा गुण और पर्यायवाली वस्तु को द्रव्य कहते हैं ।

यह बात सर्वज्ञ भगवान ने कही है ह्व यह बात गाथा के अन्तिम पद में कही गई है ।

स्वयं के स्वभाव को छोड़े बिना नवीन अवस्था की प्राप्ति उत्पाद है, पूर्व अवस्था का त्याग व्यय है और अनादि पारिणामिकभावरूप अन्वय का बना रहना ध्रौव्य है ।

यह गाथा पंचास्तिकाय नामक महाशास्त्र की १०वीं गाथा है । इसमें द्रव्य का स्वरूप समझाया गया है ।

जो बात महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में तीन सूत्रों में आई है; वही बात यहाँ एक गाथा में आ गई है ।

वे तीन बातें इसप्रकार हैं ह्व

१. द्रव्य का लक्षण सत् है ।
२. सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है ।
३. द्रव्य गुण और पर्यायवाला होता है ।

इन तथ्यों को आचार्य उमास्वामी ने तीन सूत्रों में बाँधा है; जो इसप्रकार हैं ह्व

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥२९॥

सद्द्रव्यलक्षणम् ॥३०॥

गुणपर्यायवद्द्रव्यम् ॥३८॥

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त सत् है और सत् द्रव्य का लक्षण है ।

इसप्रकार द्रव्य लक्ष्य है और उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व से युक्तता उसका लक्षण है ।

द्रव्य लक्ष्य है और गुण-पर्यायवाला होना, यह लक्षण है ।

प्रतिसमय बदल कर कभी नहीं बदलना और कभी न बदल कर प्रतिसमय बदलते रहना प्रत्येक द्रव्य का मूल स्वभाव है ।

कभी न बदलना, यह द्रव्य का द्रव्यस्वभाव है और प्रतिसमय बदलते रहना, यह द्रव्य का पर्यायस्वभाव है ।

आध्यात्मिक प्रकरण में पर और पर्याय से भिन्न त्रिकाली ध्रुव निज द्रव्यरूप आत्मा की चर्चा में आत्मद्रव्य को बड़ी दृढ़ता से पर्याय से भिन्न बताया जाता रहा है । उस जोर में कुछ लोग द्रव्य और पर्याय को सर्वथा अन्य-अन्य मानने लगे हैं ।

उनकी दृष्टि को अनेकान्तमयी बनाने की दृष्टि से पंचास्तिकाय की ये तीन गाथायें इस संकलन में संकलित की गई हैं; जिनमें द्रव्य और पर्याय तथा द्रव्य और गुण की अनन्यता के पक्ष को मूल में ही प्रस्तुत किया गया है ।

यह चर्चा पंचास्तिकाय की ५६वीं और ५७वीं गाथा में आगे मूलतः आ रही है ।

द्रव्य-गुण-पर्याय अनन्य हैं

(५६-५७)

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि ।
दोण्हं अणणभूदं भावं समणा परूवेति ॥
दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि ।
अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि तम्हा ॥

(हरिगीत)

पर्याय बिन ना द्रव्य हो ना द्रव्य बिन पर्याय ही ।
दोनों अनन्य रहे सदा हू यह बात श्रमणों ने कही ॥
द्रव्य बिन गुण हों नहीं गुण बिना द्रव्य नहीं बने ।
गुण द्रव्य अव्यतिरिक्त हैं हू यह कहा जिनवरदेव ने ॥

जैन/श्रमण कहते हैं कि पर्यायों के बिना द्रव्य नहीं होता; और द्रव्य के बिना पर्यायें नहीं होती, क्योंकि दोनों में अनन्यभाव है ।

जैन/श्रमण कहते हैं कि द्रव्य के बिना गुण नहीं होते और गुणों के बिना द्रव्य नहीं होता; क्योंकि दोनों में अव्यक्तिरिक्त भाव (अभिन्नपना) है ।

ये गाथायें पंचास्तिकाय शास्त्र की १२वीं एवं १३वीं गाथायें हैं। इनमें यह समझाया गया है कि द्रव्य और पर्यायें अन्य-अन्य नहीं हैं, अनन्य हैं। इसीप्रकार द्रव्य और गुण भी अन्य-अन्य नहीं हैं, अनन्य हैं।

गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं और गुणों के परिणमन को पर्याय कहते हैं। अतः द्रव्य से गुण तथा पर्यायों का भिन्न होना संभव नहीं है। द्रव्य और गुण-पर्यायों में मात्र अंशी-अंश का भेद है।

द्रव्य-गुण-पर्याय में भावभेद होने पर भी प्रदेशभेद नहीं है; इसलिए वे अनन्य ही हैं। ●

भाव और अभाव

(५८)

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो ।
गुणपज्जएसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति ॥

(हरिगीत)

उत्पाद हो न अभाव का ना नाश हो सद्भाव में ।
उत्पाद-व्यय करते रहें सब द्रव्य गुण-पर्याय में ॥

भाव अर्थात् जो पदार्थ है, उसका नाश नहीं होता और अभाव अर्थात् जो पदार्थ नहीं है, उसका उत्पाद नहीं होता। भाव अर्थात् सभी पदार्थ अपने गुण-पर्यायों का उत्पाद-व्यय करते हैं।

तात्पर्य यह है कि सत् का कभी नाश नहीं होता और असत् का उत्पाद नहीं होता; पर सभी पदार्थों में प्रतिसमय परिणमन अवश्य होता रहता है।

यह गाथा पंचास्तिकाय शास्त्र की १५वीं गाथा है। इसमें यह बताया गया है कि जो है, उसका नाश नहीं होता; जो नहीं है, उसका उत्पाद नहीं होता; पर सभी द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्याय में उत्पाद-व्यय करते रहते हैं।

इस जगत में जिस पदार्थ का अस्तित्व है, सत्ता है, सद्भाव है; उस पदार्थ का सर्वथा नाश कभी नहीं होता तथा जिस पदार्थ का अस्तित्व नहीं है, सत्ता नहीं है, सद्भाव नहीं है, उसका सर्वथा अभाव है; जो है ही नहीं; उसका उत्पाद नहीं होता।

ऐसा होने पर भी लोक के सभी पदार्थों में प्रतिसमय परिणमन अवश्य होता रहता है। कूटस्थ नित्य कोई नहीं है अर्थात् सर्वथा अपरिवर्तनशील कोई पदार्थ नहीं है।

जिसप्रकार कोई सर्वथा नित्य नहीं है। उसीप्रकार कोई सर्वथा अनित्य भी नहीं है; सभी पदार्थ एकसाथ नित्यानित्यरूप हैं। ●

केवली के ज्ञान में

(५९-६१)

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं ।
वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥
जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया ।
ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा ॥
जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स ।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेति ॥

(हरिगीत)

असद्भूत हों सदभूत हों सब द्रव्य की पर्याय सब ।
सद्ज्ञान में वर्तमानवत् ही हैं सदा वर्तमान सब ॥
पर्याय जो अनुत्पन्न हैं या नष्ट जो हो गई हैं ।
असद्भावी वे सभी पर्याय ज्ञान प्रत्यक्ष हैं ॥
पर्याय जो अनुत्पन्न हैं या हो गई हैं नष्ट जो ।
फिर ज्ञान की क्या दिव्यता यदि ज्ञात होवें नहीं वो? ॥

जीवादि द्रव्य जातियों की समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्यायों तात्कालिक (वर्तमान) पर्यायों की भाँति विशेष रूप से ज्ञान में झलकती हैं ।

जो पर्याय अभी उत्पन्न नहीं हुई हैं और जो पर्याय उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं वे अविद्यमान पर्याय भी ज्ञान में प्रत्यक्ष ज्ञात होती हैं ।

ज्ञान का ऐसा ही स्वभाव है कि उसमें भूतकालीन विनष्ट पर्यायों और भविष्यकालीन अनुत्पन्न पर्यायों भी स्पष्ट झलकती हैं ।

यदि अनुत्पन्न और विनष्ट पर्यायों सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रत्यक्ष ज्ञात न हों तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा ?

सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान की दिव्यता ही इस बात में है कि उसमें भूत-भविष्य की पर्यायों भी वर्तमानवत् प्रतिबिम्बित होती हैं ।

ये गाथायें प्रवचनसार शास्त्र की ३७-३८-३९वीं गाथायें हैं । इनमें केवलज्ञान का स्वरूप समझाया गया है ।

ज्ञान चित्रपट के समान है । जिसप्रकार चित्रपट में अतीत, अनागत और वर्तमान वस्तुओं के आलेख्याकार साक्षात् एक क्षण में ही भासित होते हैं; उसीप्रकार ज्ञानरूपी भित्ति में भी अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायों के ज्ञेयाकार साक्षात् एक क्षण में ही भासित होते हैं ।

सर्व ज्ञेयाकारों की तात्कालिकता अविरोद्ध है । जिसप्रकार नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओं के आलेख्याकार वर्तमान ही हैं; उसीप्रकार अतीत और अनागत पर्यायों के ज्ञेयाकार भी वर्तमान में ही हैं ।

इसप्रकार आत्मा की अद्भुत ज्ञानशक्ति और द्रव्यों की अद्भुत ज्ञेयत्वशक्ति के कारण केवलज्ञान में समस्त द्रव्यों की तीनों काल की पर्यायों का एक ही समय में भासित होना अविरोद्ध है ।

उक्त गाथा और उनकी टीकाओं में जो प्रमेय उपस्थित किया गया है, उसमें निम्नांकित बिन्दु विशेष ध्यान देने योग्य हैं ह

सर्वप्रथम तो यह बात कही गई है कि भूतकालीन पर्यायों भले ही विनष्ट हो गई हों और भविष्यकालीन पर्यायों अभी उत्पन्न ही न हुई हों; फिर भी **केवलज्ञान में तो वे वर्तमान पर्यायों के समान ही विद्यमान हैं ।**

दूसरे ज्ञान का उन्हें जानना हू यह ज्ञान की स्वरूपसंपदा है और उन पर्यायों का ज्ञान में झलकना उक्त पर्यायों की स्वरूपसंपदा है ।

तात्पर्य यह है कि उनको जानना ज्ञान की मजबूरी नहीं है और उनका ज्ञान में झलक जाना भी उनके लिए कोई विपत्ति नहीं है ।

ज्ञान का जानना और ज्ञेयों का जानने में आना सहज स्वभाव है, उनकी स्वरूपसम्पदा है ।

ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर कि जब वे अभी हैं ही नहीं, तब उनको जानना कैसे संभव है ?

कहा गया है कि जब हमारे क्षायोपशमिकज्ञान में भूत और भविष्य

की बातें जान ली जाती हैं तो फिर केवलज्ञान में जान लेने पर क्या आपत्ति हो सकती है ?

आत्मा की ज्ञानशक्ति और पदार्थों की ज्ञेयत्व (प्रमेयत्व) शक्ति का ही यह कमाल है।

यहाँ चित्रपट के उदाहरण से ज्ञानशक्ति और आलेख्याकारों के उदाहरण से ज्ञेयत्वशक्ति के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।

विगत ३७वीं गाथा में यह कहा था कि केवलज्ञान में सभी द्रव्यों की अतीत और भावी पर्यायें भी वर्तमान पर्यायों के समान ही झलकती हैं।

अब ३८ व ३९वीं गाथा में यह कह रहे हैं कि सभी द्रव्यों की भूत और भावी पर्यायें ज्ञान में विद्यमान ही हैं।

जिस ज्ञान में भूत और भावी पर्यायें ज्ञात न हों, उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा ?

इन गाथाओं में न केवल केवलज्ञान की महिमा बताई गई है; अपितु केवलज्ञान का स्वरूप भी स्पष्ट किया गया है।

यद्यपि इन गाथाओं में बताई गई बात हाथ पर रखे आंवलें के समान स्पष्ट है; तथापि कुछ लोग शंकायें-आशंकायें व्यक्त करते हैं। उन्हें लगता है कि इसे मान लेने पर तो 'सबकुछ निश्चित है' ह्व यह सिद्ध हो जावेगा। ऐसी स्थिति में हमारे हाथ में तो कुछ रहेगा ही नहीं।

उक्त संदर्भ में मैंने क्रमबद्धपर्याय नामक कृति में विस्तार से चर्चा की है। जिज्ञासु पाठक उसका स्वाध्याय गहराई से अवश्य करें। ●

यद्यपि निर्वाण महोत्सव भी खुशी का महोत्सव है, क्योंकि यह आत्मा की सर्वोच्च उपलब्धि का दिन है; तथापि इस खुशी में चंचलता, खेलकूद, बढ़िया-बढ़िया खान-पान आदि को कोई स्थान नहीं है; क्योंकि वह भगवान के संयोग का नहीं, वियोग का दिन है।

ह्व पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-८२

शास्त्र स्वाध्याय

(६२)

अरहंतभासियत्थं गणधरदेवेहिं गंधियं सम्मं ।
सुत्तत्थमग्गणत्थं सवणा साहंति परमत्थं ॥

(हरिगीत)

अरहंत-भासित ग्रथित-गणधर सूत्र से ही श्रमणजन ।
परमार्थ का साधन करें अध्ययन करो हे भव्यजन ॥

अरहंत भगवान द्वारा कहा गया और गणधरदेव द्वारा भले प्रकार से गूँथा गया जो जिनागम है, वही सूत्र है। ऐसे सूत्रों के आधार पर श्रमणजन परमार्थ को साधते हैं। तात्पर्य यह है कि जिनागम श्रमणों के लिए परमार्थसाधक हैं।

यह गाथा अष्टपाहुड शास्त्र के सूत्रपाहुड नामक पाहुड की पहली गाथा है; जिसमें अरहंत कथित और गणधरदेव द्वारा ग्रथित शास्त्रों के स्वाध्याय करने की प्रेरणा दी गई है।

अरहंत भगवान की दिव्यध्वनि में समागत, गणधरदेव द्वारा ग्रथित तथा आचार्य भगवन्तों द्वारा लिखित जिनागम के माध्यम से श्रमण परमार्थ की साधना करते हैं।

श्रमणजनों के मुख्यतः दो ही कार्य हैं ह्व

१. अध्ययन और २. ध्यान।

गणधरदेव द्वारा भलीप्रकार गूँथी गई अरहंत भगवान की वाणी महाभाग्य से आज हमें सहज उपलब्ध है। इस वाणी के माध्यम से श्रमणजन अपना परमार्थ साधते हैं, परम पदार्थ भगवान आत्मा को जानते हैं; जानकर मानते हैं, उसमें अपनापन स्थापित करते हैं।

हे भव्यजन! वह वाणी आज तुम्हें भी उपलब्ध है, महाभाग्य से हम सभी को सहज उपलब्ध है; उसका पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहिए। ●

जिनसूत्र के ज्ञायक श्रमण

(६३)

सुतं हि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुण्णदि ।
सूई जहा असुत्ता पासदि सुत्ते सहा णो वि ॥

(हरिगीत)

डोरा सहित सुई नहीं खोती गिरे चाहे वन भवन ।
संसार-सागर पार हों जिनसूत्र के ज्ञायक श्रमण ॥

जिसप्रकार सूत्र (डोरा) सहित सुई खोती नहीं है, सूत्र रहित सुई खो जाती है; उसीप्रकार सूत्र (शास्त्र) सहित श्रमण नाश को प्राप्त नहीं होते ।

सूत्रों को जाननेवाले श्रमण संसार का नाश करते हैं; क्योंकि संसार के नाश और मुक्ति प्राप्त करने का उपाय सूत्रों (शास्त्रों) में ही बताया गया है ।

यह गाथा भी अष्टपाहुड़ शास्त्र के सूत्रपाहुड़ नामक पाहुड़ की तीसरी गाथा है । इसमें बताया गया है कि शास्त्रों के भाव को जाननेवाले श्रमण संसार का नाश करते हैं, संसार समुद्र से पार होते हैं ।

जिस सुई में डोरा न डला हो, यदि वह सुई खो जावे तो उसका मिलना असंभव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है; उसीप्रकार जिस श्रमण ने शास्त्रों का अध्ययन गहराई से न किया हो; उस श्रमण का मार्ग से भटक जाना अनिवार्य है; क्योंकि इस कलिकाल में तो संसारसागर से पार होने में एक मात्र शरण जिनशास्त्र ही हैं ।

सर्वज्ञ भगवान इस वर्तमान दृश्यमान क्षेत्र-काल में उपलब्ध नहीं हैं और मुक्तिमार्ग के ज्ञाता गुरु भी सर्वत्र उपलब्ध नहीं हैं । वे भी बहुत विरल हैं ।

एक मात्र जिनसूत्र (जिनवाणी) ही शरण है । प्रवचनसार नामक शास्त्र में जिनवाणी को नित्यबोधक कहा है । आज हम उसे कहीं भी उपलब्ध कर सकते हैं और कभी भी पढ़ सकते हैं ।

अन्य सभी कार्यों का तो क्षेत्र और काल प्रतिबंधित होता है; पर जिनवाणी के स्वाध्याय के लिए कहीं कोई प्रतिबंध नहीं है । दिन को पढ़ो, रात को पढ़ो; चाहे जहाँ पढ़ो, घर पर पढ़ो, मंदिर में पढ़ो, प्लेन में पढ़ो । कहीं कोई रोक-टोक नहीं है ।

यह जमाना तो इस दृष्टि से और भी अधिक सुविधाजनक है । उपलब्ध लगभग सभी शास्त्रों के अनेक भाषाओं में अनुवाद हो गये हैं, सभी भाषाओं का अनुवाद भी उपलब्ध है ।

मूलशास्त्र तो उपलब्ध हैं ही । उनकी व्याख्यायें उपलब्ध हैं, अनुवाद उपलब्ध है, अनुशीलन भी उपलब्ध हैं ।

पण्डित टोडरमलजी की भाषा में कहें तो कह सकते हैं कि आज सभी प्रकार अवसर आ गया है; अतः चूकना योग्य नहीं है ।

जो श्रमण शास्त्रों का गहराई से अध्ययन करते हैं, उनकी आज्ञानुसार चलते हैं, उनके बताये गये मार्गानुसार अपने जीवन को ढालते हैं; वे मुक्तिमार्ग पर चलते हुए निकट भविष्य में मुक्ति को अवश्य प्राप्त कर सकते हैं ।

जिस आत्मा को जाना है, माना है; उसी में रम जाना, समा जाना ही वस्तुतः चारित्र है । स्वयं में लीन हो जाना ही वास्तविक चारित्र है । जिसके अन्तर में यह वास्तविक चारित्र प्रकट हो जाता है, उसकी बाह्य परिणति भी सहज ही शुद्ध होने लगती है । फिर उससे अनर्गल प्रवृत्ति नहीं होती, हो ही नहीं सकती । यदि अनर्गल प्रवृत्ति हो तो समझना चाहिए कि उसे अभी अन्तर में वास्तविक चारित्र प्रकट ही नहीं हुआ है । अन्तर में वास्तविक चारित्र प्रकट हो जावे और बाह्य प्रवृत्ति अनर्गल बनी रहे, यह सम्भव ही नहीं है ।

हृ सत्य की खोज, पृष्ठ ८५

स्वाध्याय करना चाहिए

(६४)

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खवादीहिं बुज्झदो णियमा ।
रवीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं ॥

(हरिगीत)

तत्त्वार्थ को जो जानते प्रत्यक्ष या जिनशास्त्र से।

दृग्मोह क्षय हो इसलिए स्वाध्याय करना चाहिए ॥

जिनशास्त्रों के द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को जानने वालों के नियम से मोह का नाश हो जाता है; इसलिए शास्त्रों का अध्ययन अच्छी तरह से अवश्य करना चाहिए।

यह गाथा प्रवचनसार नामक शास्त्र की ८६वीं गाथा है। इसमें स्वाध्याय करने की प्रेरणा दी गई है।

स्वाध्याय में अरहंत भगवान की दिव्यध्वनि का श्रवण, उसके अनुसार लिखे गये शास्त्रों का पठन-पाठन एवं उनके मर्म को जाननेवाले तत्त्वज्ञानी गुरुओं के उपदेश का श्रवण हूँ ये सबकुछ आ जाता है।

उक्त सम्पूर्ण कथन से यही प्रतिफलित होता है कि देशनालब्धि के माध्यम से अरहंत भगवान को द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व से जानकर, तर्क की कसौटी पर कसकर निर्णय करना चाहिए। तदुपरान्त उन्हीं के समान अपने आत्मा को भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जानकर आत्मानुभव करना चाहिए। दर्शनमोह के नाश करने का एकमात्र यही उपाय है।

ध्यान रहे, यहाँ मोह के नाश के लिए स्वाध्याय के अतिरिक्त और किसी भी क्रियाकाण्ड या शुभभाव को उपाय के रूप में, निमित्त के रूप में नहीं बताया है।

अतः आत्मकल्याण की भावना से मोह (मिथ्यात्व) का नाश करने के लिए धर्म के नाम पर चलनेवाले अन्य क्रियाकलापों से थोड़ा-बहुत विराम लेकर पूरी शक्ति और सच्चे मन से स्वाध्याय में लगना चाहिए; अन्यथा यह मनुष्यभव यों ही चला जायेगा, कुछ भी हाथ नहीं आयेगा। ●

सत्त्वे आगमसिद्धा

(६५)

सत्त्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं ।
जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा ॥

(हरिगीत)

जिन-आगमों से सिद्ध हों सब अर्थ गुण-पर्यय सहित।

जिन-आगमों से ही श्रमणजन जानकर साधें स्वहित ॥

विचित्र गुण-पर्यायों से सहित सभी पदार्थ आगमसिद्ध हैं। श्रमणजन उन पदार्थों को आगम के अभ्यास से ही जानते हैं।

तात्पर्य यह है कि क्षेत्र व काल से दूरवर्ती एवं सूक्ष्म पदार्थ केवलज्ञान बिना प्रत्यक्ष नहीं जाने जा सकते; अतः वे क्षायोपशमिक ज्ञानधारी मुनिराजों द्वारा आगम से ही जाने जाते हैं।

यह गाथा प्रवचनसार नामक शास्त्र की २३५वीं गाथा है। इसमें कहा गया है कि अनेक गुण-पर्यायों सहित सभी पदार्थ आगम से जाने जाते हैं। उन्हें जानकर अपना हित साधना श्रेयस्कर है।

यह बात सहजसिद्ध है कि सभी पदार्थों की सिद्धि आगम से ही होती है। यहाँ सिद्धि का अर्थ प्राप्ति नहीं है। यहाँ तो जानकारी को ही सिद्धि कहा जा रहा है।

तात्पर्य यह है कि गुण-पर्यायवाले सभी पदार्थों की आवश्यक जानकारी जिनवाणी के स्वाध्याय से प्राप्त हो जाती है।

आत्मकल्याण में रत सन्तगण मुक्तिमार्ग में आवश्यक सभी जानकारी आगम और परमागमों के स्वाध्याय से ही प्राप्त कर लेते हैं।

इसप्रकार जिनवाणी माँ के सहयोग से वे अपना काम सिद्ध कर लेते हैं। हमें भी उनका अनुसरण करना चाहिए। ●

आगम में चेष्टा ही ज्येष्ठ है, श्रेष्ठ है

(६६)

एयव्गगदो समणो एयव्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु ।
णिच्छिती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ॥

(हरिगीत)

स्वाध्याय से जो जानकर निज अर्थ में एकाग्र हैं।

भूतार्थ से वे ही श्रमण स्वाध्याय ही बस श्रेष्ठ है।

सच्चा श्रमण वही है, जिसे अपने आत्मा की एकाग्रता प्राप्त हो। एकाग्रता उसे ही प्राप्त होती है, जिसने पदार्थों का निश्चय किया हो। पदार्थों का निश्चय आगम से होता है; अतः आगम में चेष्टा ही ज्येष्ठ है। तात्पर्य यह कि आगम का अभ्यास आवश्यक है, अनिवार्य है और ज्येष्ठ है, सर्वश्रेष्ठ एकमात्र परम कर्तव्य है।

यह गाथा प्रवचनसार नामक शास्त्र की २३२वीं गाथा है। इसमें कहा गया है कि आगम में की गई चेष्टा ही ज्येष्ठ है। तात्पर्य यह है कि हम शास्त्र स्वाध्याय में जितना प्रयत्न करेंगे, उतना ही अच्छा होगा। अतः सन्तों को एक मात्र सर्वश्रेष्ठ कार्य स्वाध्याय ही है।

आत्मा की अभिलाषा करनेवालों को तत्त्वार्थों का स्वरूप जानना अनिवार्य है। आत्मा एक तत्त्वार्थ है और उसका जानना भी अनिवार्य है। तत्त्वार्थ की सही जानकारी आगम के अध्ययन से होती है। इसीलिए आगम के अध्ययन में की गई चेष्टा (प्रयत्न) ही ज्येष्ठ है, श्रेष्ठ है।

महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। इसप्रकार तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण है और सम्यग्दर्शन लक्ष्य।

आत्मा भी एक तत्त्वार्थ है, एक तत्त्वार्थ नहीं, अपितु सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्त्वार्थ है। उसे जानना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

तत्त्वार्थों का ज्ञान जिनागम के स्वाध्याय से, परमागम के स्वाध्याय से होता है। इसलिए शास्त्रों का सूक्ष्मता से अध्ययन करना अति आवश्यक है। ●

आगमहीन श्रमण

(६७)

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि ।
अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू ॥

(हरिगीत)

जो श्रमण आगमहीन हैं वे स्वपर को नहीं जानते।

वे कर्मक्षय कैसे करें जो स्वपर को नहीं जानते? ॥

आगम-हीन श्रमण आत्मा को और पर को नहीं जानता है। पदार्थों को नहीं जानने वाला श्रमण कर्मों का नाश किसप्रकार कर सकता है ?

यह गाथा भी प्रवचनसार शास्त्र की २३३वीं गाथा है। इसमें यह बताया गया है कि आगम का अभ्यास नहीं करनेवाले श्रमण स्व-पर को नहीं जानते और स्व-पर को नहीं जाननेवाला श्रमण कर्मों का क्षय कैसे कर सकता है ?

वस्तुतः बात यह है कि आगम के अभ्यास बिना न तो स्व-पर भेदविज्ञान होता है और न त्रिकाली ध्रुव निज परमात्मा का ही ज्ञान होता है। परात्मज्ञान (भेदविज्ञान) और परमात्मज्ञान से शून्य व्यक्ति के द्रव्य मोहादि और भाव मोहादि कर्मों अथवा ज्ञप्तिपरिवर्तनरूप कर्मों का क्षय नहीं होता।

इसप्रकार परात्मज्ञान और परमात्मज्ञान से शून्य आत्मा को द्रव्यकर्मों के उदय से होनेवाले शरीरादि और तत्संबंधी मोह-राग-द्वेषादि भावों के साथ एकता का अनुभव करने के कारण वध्य-घातक भाव के विभाग का अभाव होने से मोहादि द्रव्य-भावकर्मों का क्षय सिद्ध नहीं होता।

तथा परज्ञेयनिष्ठता से प्रत्येक वस्तु के उत्पाद-विनाशरूप परिणमित होने से अनादिकाल से परिवर्तन को प्राप्त ज्ञप्ति का परिवर्तन परमात्मनिष्ठता के अतिरिक्त अनिवार्य होने से ज्ञप्ति-परिवर्तनरूप कर्मों का क्षय भी सिद्ध

नहीं होता। इसलिए कर्मक्षयार्थियों को सभीप्रकार से आगम की उपासना करना चाहिए।

आचार्य जयसेन इस गाथा की टीका में भी आगम के साथ-साथ अध्यात्म के प्रतिपादक परमागम के अभ्यास की अनिवार्यता सिद्ध करते हैं।

सब कुछ मिलाकर इस गाथा और उसकी टीकाओं में एक ही बात कही गई है कि जिस श्रमण को आगम और परमागम का ज्ञान नहीं है; वह श्रमण न तो सही रूप में स्वयं को ही जानता है और न पर को ही जानता है। इसप्रकार स्व को और पर को जाने बिना अर्थात् दोनों के बीच भेदज्ञान किये बिना कर्मों का नाश कैसे हो सकता है ?

तात्पर्य यह है कि कर्मों के नाश के लिए स्व और पर के बीच की सीमा रेखा जानना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि इस सीमा रेखा को जाने बिना स्व का ग्रहण और पर का त्याग कैसे संभव है ?

कर्मों का नाश कर मुक्ति को प्राप्त करने के लिए आत्मज्ञान और स्व और पर के बीच में भेदविज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है।

इसलिए आत्मज्ञान और भेदविज्ञान के लिए आत्मार्थियों को आगम और परमागम का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। ●

असत्य या तो वाणी में होता है या ज्ञान में; वस्तु में नहीं। वस्तु में असत्य की सत्ता ही नहीं है। वस्तु को अपने ज्ञान और वाणी के अनुरूप नहीं बनाया जा सकता और बनाने की आवश्यकता भी नहीं है। आवश्यकता अपने ज्ञान और वाणी को वस्तुस्वरूप के अनुरूप बनाने की है। जब ज्ञान और वाणी वस्तु के अनुरूप होंगे तब वे सत्य होंगे। जब आत्मा सत्स्वभावी आत्मा के आश्रय से वीतराग परिणति प्राप्त करेगा, तब सत्यधर्म का धनी होगा। जितने अंश में प्राप्त करेगा, उतने अंश में सत्यधर्म का धनी होगा।

हृ धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ ७८

व्रत व पूजादि पुण्य हैं

(६८)

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥

(हरिगीत)

व्रत सहित पूजा आदि सब जिन धर्म में सत्कर्म हैं।
दृगमोह ह् क्षोभ विहीन निज परिणाम आत्मधर्म हैं ॥

जिनशासन में जिनेन्द्रदेव ने इसप्रकार कहा है कि व्रत सहित पूजादि शुभकार्य करना पुण्य है और मोह (मिथ्यात्व) व क्षोभ (राग-द्वेष) से रहित आत्मा का परिणाम धर्म है।

तात्पर्य यह है कि शुभभाव पुण्य है और शुद्धभाव (वीतराग भाव) धर्म है।

यह गाथा अष्टपाहुड़ शास्त्र के भावपाहुड़ की ८३वीं गाथा है। इसमें यह कहा गया है कि मोह (मिथ्यात्व) और क्षोभ (राग-द्वेष) से रहित परिणाम धर्म है तथा व्रत धारण करना और जिनेन्द्र भगवान की पूजा करना आदि शुभभाव पुण्य हैं। ऐसा जिनेन्द्र भगवान के जिनशासन में कहा है।

इसीप्रकार की एक गाथा प्रवचनसार में भी आती है। जो यहाँ कुन्दकुन्द शतक में अगली गाथा (६९) के रूप में संकलित है।

उस गाथा में नीचे की पंक्ति इस गाथा की नीचे की पंक्ति के एकदम समान है। मात्र इतना ही अन्तर है कि इस गाथा में अन्तिम पद धम्मो है और उसमें समो है।

दोनों का अर्थ एक ही है; क्योंकि इसी प्रवचनसार में समभाव को ही धर्म कहा है। ●

मोह और क्षोभ से रहित आत्म परिणाम धर्म है

(६९)

चारित्रं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो ति णिद्धिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥

(हरिगीत)

चारित्र ही बस धर्म है वह धर्म समताभाव है ।
दृग्मोह-क्षोभ विहीन निज परिणाम समताभाव है ॥

वास्तव में तो चारित्र ही धर्म है । यह धर्म साम्यभाव रूप है तथा मोह (मिथ्यात्व) और क्षोभ (राग-द्वेष) से रहित आत्मा का परिणाम ही साम्य है हू ऐसा कहा गया है । तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन सहित चारित्र ही वास्तव में धर्म है ।

यह गाथा प्रवचनसार नामक शास्त्र की ७ वीं गाथा है । चारित्र को धर्म घोषित करनेवाली उक्त गाथा सर्वाधिक चर्चित गाथा है । इसमें साफ-साफ लिखा है कि न तो जड़ देह की क्रिया का नाम चारित्र है और न शुभभावरूप रागभाव का नाम ही निश्चय चारित्र है । चारित्र तो मोह-क्षोभ से रहित आत्मपरिणाम का नाम है; जो मिथ्यात्व और राग-द्वेष से रहित वीतरागी परिणाम है ।

इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं हू

“स्वरूप में चरण करना (रमना) चारित्र है । इसका अर्थ (तात्पर्य) स्वसमय में प्रवृत्ति करना है । वस्तु का स्वभाव होने से यही धर्म है और शुद्धचैतन्य का प्रकाशन होना हू इसका अर्थ है । यही यथावस्थित आत्मगुण होने से साम्य है । वह साम्य दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय के उदय से उत्पन्न होनेवाले समस्त मोह (दर्शनमोह-मिथ्यात्व) और क्षोभ (चारित्रमोह हू राग-द्वेष) के अभाव के कारण अत्यन्त निर्विकारी हू ऐसा जीव का परिणाम है ।”

यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गाथा और उसकी सरल-सुबोध छोटी-सी टीका हू इसमें आचार्यदेव ने समस्त जिनागम का सार भर दिया है ।

सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक होता है । स्वरूप में अपनापन सम्यग्दर्शन व स्वरूप को जानना, निजरूप जानना हू सम्यग्ज्ञान है और उसी स्वरूप को जानकर-मानकर, उसी में स्थिर हो जाना चारित्र है ।

इसी को स्वसमय में प्रवृत्ति कहते हैं । यही शुद्धचैतन्य का प्रकाशन है; यही वस्तु का स्वभाव होने से धर्म है । इसी का नाम साम्यभाव है ।

पर्याय में प्रगट हुआ हू जीव का यही साम्यभाव साक्षात् चारित्र है, धर्म है ।

‘अकेले ही मरना होगा, अकेले ही पैदा होना होगा, सुख-दुःख भी अकेले ही भोगना होगा’ हू इसप्रकार के चिन्तन से यदि खेद उत्पन्न होता है तो हमें अपनी चिंतन प्रक्रिया पर गहराई से विचार करना चाहिए । यदि हमारी चिन्तन-प्रक्रिया की दिशा सही हो तो आह्लाद आना ही चाहिए । जरा गहराई से विचार करें तो सबकुछ सहज ही स्पष्ट हो जावेगा ।

आपको यह शिकायत हो कि सुख-दुःख, जीवन-मरण सबकुछ आपको अकेले ही भोगने पड़ते हैं; कोई सगा-संबंधी भी साथ नहीं देता । क्या आपकी यह शिकायत उचित है ?

जरा इस पर गौर कीजिए कि कोई साथ नहीं देता है या दे नहीं सकता? वस्तुस्वरूप के अनुसार जब कोई साथ दे ही नहीं सकता, तब ‘साथ नहीं देता’ हू यह प्रश्न ही कहाँ रह जाता है ?

जब हम ऐसा सोचते हैं कि कोई साथ नहीं देता तो हमें द्वेष उत्पन्न होता है; पर यदि यह सोचें कि कोई साथ दे नहीं सकता तो सहज ही उदासीनता उत्पन्न होगी, वीतरागभाव जागृत होगा ।

हू बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ-६७

धर्म से परिणत आत्मा

(७०)

धम्मैण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो ।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो य सग्गसुहं ॥

(हरिगीत)

प्राप्त करते मोक्षसुख शुद्धोपयोगी आत्मा ।
पर प्राप्त करते स्वर्गसुख हि शुभोपयोगी आत्मा ॥

धर्म से परिणमित स्वभाववाला आत्मा यदि शुद्धोपयोग में युक्त हो तो मोक्षसुख को प्राप्त करता है और यदि शुभोपयोग में युक्त हो तो स्वर्गसुख को प्राप्त करता है ।

यह गाथा प्रवचनसार नामक शास्त्र की ११वीं गाथा है । इसमें यह बताया गया है कि धर्म से परिणत आत्मा अर्थात् वीतराग परिणति से परिणत, शुद्ध परिणति से परिणत आत्मा जब शुद्धोपयोग से युक्त होता है तो मोक्ष सुख पाता है और जब शुभोपयोगयुक्त होता है तो स्वर्ग सुख पाता है ।

ध्यान देने की बात यह है कि जब यह आत्मा; मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी व अप्रत्याख्यानावरण कषाय चौकड़ी अथवा मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण कषाय चौकड़ी के अभाव में होनेवाली शुद्धपरिणति से युक्त होता है; तब वह शुद्ध परिणति सम्पन्न शुद्धात्मा शुद्धोपयोग से मुक्ति प्राप्त करता है और शुभोपयोग से स्वर्गसुख प्राप्त करता है ।

तात्पर्य यह है कि शुद्धोपयोग मोक्षसुख का एवं शुभोपयोग स्वर्ग सुख का कारण है; परन्तु दोनों में ही साथ में शुद्धपरिणति का होना अनिवार्य है; क्योंकि शुद्धपरिणति के बिना शुद्धोपयोग और शुभोपयोग होते ही नहीं हैं ।

शुद्धपरिणति का सहचारी होने से ही शुभोपयोग को व्यवहार धर्म कहा जाता है या व्यवहारनय से धर्म कहा जाता है ।

असली धर्म तो शुद्धपरिणति और शुद्धोपयोग ही हैं ।

मूल गाथा में 'धम्मैण परिणदप्पा अप्पा' पद आया है । उसका अर्थ ही शुद्धपरिणति से परिणत आत्मा होता है ।

आज तो धर्मक्षेत्र में रहनेवाले अधिकांश लोग भी शुभाशुभ से आगे नहीं बढ़ते, तीव्र-मंद से आगे नहीं बढ़ते, पुण्य-पाप से नहीं बढ़ते । उनकी सारी तत्त्वचर्चा और सारा धर्म इन्हीं में समाहित होकर रह गया है ।

शुद्धोपयोग की चर्चा आजकल कुछ होने भी लगी है, पर शुद्ध परिणति की तो कोई बात ही नहीं करता । जबकि सर्वाधिक महिमा शुद्धपरिणति की है ।

बंध, अबंध और बंधव्युच्छित्ति का नियमन परिणति के अनुसार ही होता है । उपयोग तो कभी-कभी होता है; पर परिणति सदा रहती है ।

छठवें गुणस्थान में शुभोपयोग रहता है, सातवें में शुद्धोपयोग रहता है; किन्तु शुद्धपरिणति छठवें में भी है, सातवें में भी है हू दोनों में है ।

परिणति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कविवर पण्डित भागचंदजी छाजेड़ लिखते हैं हू

परनति सब जीवन की, तीन भाँति वरनी ।
एक पुण्य एक पाप, एक राग-हरनी ॥१॥
तामें शुभ-अशुभ अंध, दोय करै कर्मबंध ।
वीतराग परनति ही, भव-समुद्र तरनी ॥१॥
जावत शुद्धोपयोग, पावत नाही मनोग ।
तावत ही करन जोग, कही पुण्य करनी ॥२॥
त्याग शुभ क्रियाकलाप, करो मत कदाच पाप ।
शुभ में न मगन होय, न शुद्धता विसरनी ॥३॥

ऊँच-ऊँच दशा धारि, चित्त प्रमाद को विडारि ।
 ऊँचली दशातें मति, गिरो अधो धरनी ॥४॥
 भागचंद या प्रकार, जीव लहै सुख अपार ।
 याके निरधार स्यादवाद की उचरनी ॥५॥

सभी जीवों की परिणति तीन प्रकार की कही गई है। एक पुण्य (शुभ) परिणति, दूसरी पाप (अशुभ) परिणति और तीसरी राग-द्वेष का हरण करनेवाली वीतराग-परिणति।

उक्त तीनों परिणतियों में शुभ परिणति और अशुभ परिणति तो अंधी हैं, अज्ञानमयी हैं। उक्त दोनों परिणतियाँ कर्मबंध करनेवाली हैं। मात्र एक वीतराग परिणति ही संसार समुद्र से पार उतारनेवाली है ॥१॥

जबतक अति मनोग्य शुद्धोपयोग प्राप्त नहीं होता, तबतक शुभभाव रूप पुण्यकरणी करनेयोग्य है वह ऐसा शास्त्रों में कहा गया है ॥२॥

इसलिए पाप तो कभी करो ही नहीं, शुभ क्रियाकलाप को भी त्याग दो। शुभभाव हों तो हों पर शुभभावों में मगन मत हो जाना और शुद्धता को कभी भी भूल मत जाना। शुद्धता तो निरन्तर याद रखने योग्य हैं ॥३॥

चित्त से प्रमाद को छोड़कर ऊँची-ऊँची दशा को धारण करो। ऊँची-ऊँची दशा को धारण करके, नीचे जमीन पर मत गिरो ॥४॥

कविवर भागचंदजी कहते हैं कि ऐसा करने से जीव अपार सुख प्राप्त करता है। स्याद्वाद शैली से प्रतिपादन करने पर ऐसा निर्धारण हो जाता है ॥५॥

इसप्रकार इस भजन में भी शुद्धोपयोग को सर्वोत्कृष्ट धर्म बताया गया है तथा पाप (अशुभ) को तो पूरी तरह त्यागने का आदेश दिया है, साथ में पुण्य (शुभ) में मगन होने का भी निषेध किया गया है। ●

भगवान् स्वरूप अपने आत्मा पर रीझे पुरुषों के गले में ही मुक्तिरूपी कन्या वरमाला डालती है।
 ह्व आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-२०२

शुद्धोपयोगी श्रमण

(७१)

समणा सुद्धवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि ।
 तेसु वि सुद्धवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥

(हरिगीत)

शुद्धोपयोगी श्रमण हैं शुभोपयोगी भी श्रमण ।
 शुद्धोपयोगी निरास्रव हैं आस्रवी हैं शेष सब ॥

श्रमण दो प्रकार के होते हैं - शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी। शुद्धोपयोगी श्रमण निरास्रव होते हैं, शेष सास्रव होते हैं वह ऐसा शास्त्रों में कहा है।

तात्पर्य यह है कि शुभोपयोग से आस्रव व बंध ही होते हैं; संवर, निर्जरा व मोक्ष नहीं। इसीप्रकार शुद्धोपयोग से संवर, निर्जरा व मोक्ष ही होते हैं; आस्रव व बंध नहीं।

यह गाथा भी प्रवचनसार नामक शास्त्र की २४५वीं गाथा है। इसमें कहा गया है कि शुद्धोपयोगी श्रमण ही निरास्रवी होता है, अन्य नहीं।

जिनके सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नहीं है; उनके नियम से सम्यक्चारित्र भी नहीं होता। अतः वे भले दिगम्बर वेष धारण किये हों, बाह्यक्रियाकाण्ड का पालन करते हों; पर सच्चे साधु नहीं हैं। वे तो मात्र वेषधारी हैं।

वे तो अभी पहले गुणस्थान में ही हैं। सच्चे मुनिराज तो नीचे से नीचे छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले सन्त होते हैं।

छठवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान के जीव आचार्य, उपाध्याय और साधु होते हैं। उसके ऊपर १३वें व १४वें गुणस्थानवाले अरिहंत परमेष्ठी होते हैं, उसके ऊपर वाले मुक्ति को प्राप्त सिद्ध भगवान् सिद्धपरमेष्ठी हैं।

यह सब चर्चा छठवें-सातवें गुणस्थान और उसके ऊपरवाले दिगम्बर साधुओं की हो रही है। सातवें गुणस्थान और उसके ऊपरवाले तो शुद्धोपयोगी ही होते हैं।

यह चर्चा उन मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगियों के शुभभावों की नहीं है; जिनके शुद्धपरिणति और शुद्धोपयोग तो है ही नहीं, मात्र कभी-कभी शुभभाव होते हैं और नग्नवेश आदि क्रियाओं को सावधानीपूर्वक आचरते हैं।

वे तो वेषधारी हैं। उनके शुभाशुभभाव तो अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों के ही कारण हैं।

यहाँ जो शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी भेद किये गये हैं; वे सब तो भावलिंगियों के ही भेद हैं।

छठवें गुणस्थानवाले तीन कषाय के अभाववाले भावलिंगी मुनिराज शुद्धपरिणति के कारण सच्चे साधु हैं। उनके शुभोपयोग को यहाँ स्वर्गसुख का कारण बताया गया है; क्योंकि शुद्धोपयोग और शुद्धपरिणति तो बंध का कारण होती ही नहीं है।

इस कथन का मुख्य अभिप्राय यह है कि उच्चकोटि का स्वर्ग का सुख भी शुद्धपरिणतिवाले शुभोपयोगी भावलिंगी सन्तों को ही प्राप्त होता है; साधारण शुभभाववालों को नहीं। ●

अपने में अपनापन आनन्द का जनक है, परायों में अपनापन आपदाओं का घर है, यही कारण है कि अपने में अपनापन ही साक्षात् धर्म है और परायों में अपनापन महा-अधर्म है।

अपने में से अपनापन खो जाना ही अनन्त दुःखों का कारण है और अपने में अपनापन हो जाना ही अनन्त सुख का कारण है। अनादिकाल से यह आत्मा अपने को भूलकर ही अनन्त दुःख उठा रहा है।

हूँ आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-४६

सच्चा श्रमण

(७२)

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो ।
समलोट्टकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥

(हरिगीत)

लोह-कंचन बन्धु-अरि सुख-दुःख प्रशंसा-निन्द में।
शुद्धोपयोगी श्रमण का समभाव जीवन-मरण में ॥

जिसे शत्रु और बन्धुवर्ग समान हैं, सुख-दुःख समान हैं, प्रशंसा-निन्दा समान हैं, लोहा और सोना समान हैं, जीवन और मरण भी समान हैं, वही सच्चा श्रमण है। तात्पर्य यह है कि अनुकूल-प्रतिकूल सभी संयोगों में समताभाव रखना ही श्रमणपना है।

यह प्रवचनसार शास्त्र की २४१वीं गाथा है। इसमें सच्चे श्रमण का स्वरूप समझाया गया है।

सच्चे श्रमण तो वही हैं; जिनके हृदय में शत्रुओं के प्रति द्वेषभाव न हो। वस्तुतः देखे तो श्रमणों के कोई शत्रु होते ही नहीं; क्योंकि वे तो किसी से बैरभाव रखते ही नहीं हैं। जिनके अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कर्म संबंधी क्रोध-मान-माया और लोभ समाप्त हो गये हों, कोई व्यक्ति उनका शत्रु कैसे हो सकता है ?

कोई अपनी कषायों के कारण उनसे शत्रुता पालो तो पालो; वे किसी से शत्रुता नहीं पालते। उनकी वृत्ति और प्रवृत्ति तो सदा ही न काहू से दोस्ती न काहू से बैर वाली होती है। वे तो सदा सहज ज्ञाता-दृष्टाभाव में रहते हैं।

जिसप्रकार वे शत्रुओं से शत्रुता नहीं रखते; उसीप्रकार अत्यन्त नजदीकी बन्धुओं से रागभाव भी नहीं रखते। वे तो सभी से समताभाव ही रखते हैं, समानता का व्यवहार करते हैं।

इसीप्रकार लौकिक अनुकूलतारूप सुख में प्रसन्न नहीं होते और प्रतिकूलतारूप दुःख में अप्रसन्न नहीं होते। सदा समताभाव में ही रहते हैं।

होकर सुख में मगन न फूलें, दुःख में कभी न घबरावें ह

ऐसी वृत्ति और प्रवृत्ति धारण करनेवाले श्रमण प्रशंसा और निन्दा में समानभाव धारण करते हैं।

यशस्कीर्ति कर्म के उदय में प्रशंसा और अयशस्कीर्ति कर्म के उदय में निन्दा तो होती ही रहती है; यश और अपयश तो लगे ही रहते हैं, पर श्रमणों पर उनका कोई असर नहीं पड़ता। प्रशंसा और निन्दा में भी वे सदा समान भाव ही रखते हैं।

उनके सामने लोहा और सोना हू दोनों ही समान हैं। जब उन्होंने अपने जीवन में कोई सम्पत्ति ही नहीं रखी; सब कुछ ही त्याग दिया है; तब फिर उसके लौकिक मूल्य से उन्हें क्या फरक पड़ता है। सोना महंगा और लोहा सस्ता हू इसप्रकार के विकल्पों से उन्हें क्या लेना-देना ?

अधिक क्या कहें ? जब उनके लिए जीवन और मरण हू ये दोनों ही समान हो गये तो फिर अन्य बातों से क्या प्रयोजन रह जाता है ?

जीवन-मरण के संबंध में उनका चिन्तन इसप्रकार रहता है कि हू

लाखों वर्षों तक जीऊँ या मृत्यु आज ही आ जावे।

उन्हें न तो अधिक जीने की इच्छा है और न किसी भी प्रकार का मरणभय ही है। जीवन की चाह के साथ मरण की भी चाह नहीं है। बस जिये तो प्रसन्नतापूर्वक जीने के लिए तैयार और मृत्यु आ जाये तो अत्यन्त साम्यभाव पूर्वक मृत्यु स्वीकार।

इसप्रकार सच्चे श्रमणों के शत्रु और बन्धुवर्ग, लौकिक सुख और दुःख, प्रशंसा और निन्दा, लोहा और सोना तथा जीवन और मरण हू सभी में समताभाव रहता है, कहीं भी राग-द्वेष नहीं रहता।

इसीप्रकार का एक छन्द आचार्य अमितगति सामायिक पाठ में लिखते हैं; जो इसप्रकार है हू

(उपजाति)

दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे योगे वियोगे भवने वने वा ।
निराकृताशेषममत्वबुद्धेः समं मनो मेऽस्तु सदापि नाथ ॥

(हरिगीत)

सुख-दुख वैरी बन्धु वर्ग में, काँच-कनक में समता हो ।
वन-उपवन प्रासाद कुटी में, नहीं खेद नहीं ममता हो ॥

दुःख में, सुख में, बन्धुवर्ग में, बैरियों में, संयोग में, वियोग में, भवन में, वन में जिनका सम्पूर्ण ममत्व टूट गया हो। हे नाथ ! मेरा मन सदा इसप्रकार के सभी संयोगों में समताभाव धारण करे।

पण्डित दौलतरामजी छहढाला में लिखते हैं हू

अरि-मित्र, महल-मसान, कंचन-कांच निन्दन-थुतिकरन ।
अर्घावतारण-असिप्रहारन में सदा समता धरन ॥

शत्रु और मित्र, महल और मसान, कंचन और कांच, स्तुति करने वाले और निन्दा करनेवाले, अर्घ-उतारने (आरती करने) और तलवार का प्रहार करनेवालों में वे मुनिराज सदा ही समताभाव धारण करते हैं।

तात्पर्य यह है कि शत्रु से नाराज नहीं होते, मित्र से प्रसन्न नहीं होते; महल से राग नहीं करते और श्मशान से द्वेष नहीं करते; कंचन (सोने) से राग नहीं करते और कांच में अरुचि नहीं दिखाते; स्तुति करनेवाले से प्रसन्न नहीं होते और निन्दा करनेवाले से अप्रसन्न नहीं होते तथा अर्घ उतारने (पूजन करने-आरती करने) वालों से प्रसन्न नहीं होते और तलवार से प्रहार करनेवालों से नाराज नहीं होते। सभी से समानरूप से समताभाव रखते हैं।

इसप्रकार हमारे गुरुराजों (मुनिराजों) की वृत्ति और प्रवृत्ति तो समताभावमय होती है। ●

भावश्रमण सुखी

(७३)

भावसवणो वि पावइ सुक्खाइं दुहाइं दव्वसवणो य ।
इय णाउं गुणदोसे भावेण य संजुदो होह ॥

(हरिगीत)

भावलिङ्गी सुखी होते द्रव्यलिङ्गी दुःख लहें ।
गुण-दोष को पहिचान कर सब भाव से मुनि पद गहें ॥

भावश्रमण सुख को प्राप्त करता है और द्रव्यश्रमण दुख को प्राप्त करता है । इसप्रकार गुण-दोषों को जानकर हे जीव ! तू भावसहित संयमी बन; कोरा द्रव्यसंयम धारण करने से कोई लाभ नहीं ।

यह गाथा अष्टपाहुड़ के भावपाहुड़ अधिकार की १२७वीं गाथा है । इसमें भावश्रमण होने का उपदेश दिया गया है ।

जो श्रमण भावश्रमण हैं, वे सच्चा सुख प्राप्त करते हैं । जहाँ सदा सच्चा सुख/अतीन्द्रिय आनन्द निरन्तर प्राप्त है वह ऐसे मोक्ष को भावलिङ्गी सच्चे श्रमण ही प्राप्त करते हैं तथा भावश्रमण सच्चा सुख प्राप्त करते ही हैं ।

भाव श्रमणत्व बिना जो अकेला द्रव्यश्रमणत्व धारण करते हैं; वे श्रमण दुःखी होते हैं, दुःख को प्राप्त करते हैं । वास्तव में तो वे श्रमण हैं ही नहीं । वे तो श्रमणाभास हैं ।

आचार्यदेव उपदेश देते हैं; आदेश देते हैं कि हे श्रमणो ! गुण-दोषों को पहिचान कर भावलिङ्ग को धारण करो ।

ध्यान रहे सच्चे भावलिङ्ग के साथ द्रव्यलिङ्ग तो होता ही है, नियम से होता है ।

भावलिङ्ग के बिना द्रव्यलिङ्ग तो कोई भी धारण कर सकता है, पर द्रव्यलिङ्ग धारण किये बिना भावलिङ्ग नहीं होता ।

मिथ्यात्व और तीन कषाय अर्थात् अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यानवरण संबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ के अभाव में होनेवाली शुद्धपरिणति और शुद्धोपयोग भावलिङ्ग है और नग्न दिगम्बर वेश और महाव्रतादि के शुभभाव द्रव्यलिङ्ग हैं ।

उक्त भावलिङ्ग और द्रव्यलिङ्ग जिनके विद्यमान हों, वे भावलिङ्गी मुनिराज कहलाते हैं । इसप्रकार भावलिङ्गी मुनिराजों के द्रव्यलिङ्ग तो होता ही है । अतः एकप्रकार से उन्हें भी द्रव्यलिङ्गी कह सकते हैं । ध्यान रहे इसप्रकार के द्रव्यलिङ्गी सच्चे दिगम्बर साधु हैं, शेष द्रव्यलिङ्गियों से भिन्न हैं ।

दूसरे वे द्रव्यलिङ्गी, जिन्होंने नग्न दिगम्बर वेश तो धारण कर लिया; पर परिणति तीन कषाय के अभावरूप न हो, छठवें-सातवें गुणस्थान के अनुरूप न हो । पर मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानवरण के अभावरूप पंचम गुणस्थान या मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी कषाय के अभावरूप चौथे गुणस्थान के योग्य हो ।

तीसरे वे जिन्होंने नग्न दिगम्बर वेष तो धारण कर लिया हो, पर मिथ्यात्व और कषायों का अभाव हो ही नहीं । मिथ्यात्व नामक पहले गुणस्थान में हो । ये सभी द्रव्यलिङ्गी कहलाते हैं ।

सबसे अधिक निन्दनीय प्रथम गुणस्थानवाले द्रव्यलिङ्गी ही हैं । वे सदा दुःखी ही रहते हैं ।

प्रथम गुणस्थानवालों में भी अनेक साधु एकदम शान्त होते हैं, उनकी चर्या भी आगमानुसार होती है । ऐसे अनेक द्रव्यलिङ्गी नवमें प्रैवेयक तक चले जाते हैं ।

निन्दा योग्य तो वे नटश्रमण हैं, जो अनेक दोषों से युक्त होते हैं । उनकी आलोचना अष्टपाहुड़ आदि ग्रन्थों में जमकर की गई है; क्योंकि वे न केवल स्वयं का अकल्याण कर रहे हैं, अपितु पत्थर की नौका के समान दूसरों को भी डुबा रहे हैं; धर्म को बदनाम कर रहे हैं । ●

भाव से नग्न होना ही ठीक है...

(७४)

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं ।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए ॥

(हरिगीत)

मिथ्यात्व का परित्याग कर हो नग्न पहले भाव से ।
आज्ञा यही जिनदेव की फिर नग्न होवे द्रव्य से ॥

पहले मिथ्यात्वादि दोष छोड़कर भाव से नग्न हो, पीछे नग्न दिगम्बर द्रव्यलिंग धारण करे हूँ ऐसी जिनाज्ञा है । तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व छोड़े बिना, सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त किए बिना, नग्नवेष धारण कर लेने से कोई लाभ नहीं है, अपितु हानि ही है ।

यह गाथा अष्टपाहुड़ के भावपाहुड़ अधिकार की ७३वीं है । इसमें बताया गया है कि पहले भाव से नग्न होना चाहिए ।

आचार्यदेव कह रहे हैं कि पहले मिथ्यात्व आदि दोषों को छोड़कर भाव से नग्न होना चाहिए । उसके बाद में द्रव्य से नग्न होना चाहिए हूँ जिनेन्द्रदेव की ऐसी आज्ञा है ।

द्रव्य से नग्न होना अर्थात् नग्न दिगम्बर वेश धारण करना है । भाव से नग्न होने का अर्थ नग्न दिगम्बर वेश धारण करने से नहीं है; क्योंकि नग्न दिगम्बर वेश धारण करना तो द्रव्य से नग्न होना है ।

मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय के त्यागका नाम भाव नग्न होना है ।

भावों की विशुद्धि बिना मात्र वेश धारण करने से आत्मशुद्धि तो होती ही नहीं है, दुःख भी दूर नहीं होते ।

सच्चे भावलिंगी तो मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषाय चौकड़ी से रहित नग्न दिगम्बर शुद्धोपयोग या शुभोपयोगवाले मुनिराज होते हैं ।

कोरा नग्न दुःख पाता है

(७५)

णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसायरे भमई ।
णग्गो ण लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइरं ॥

(हरिगीत)

जिन भावना से रहित मुनि भव में भ्रमें चिरकाल तक ।
हों नग्न पर हों बोधि-विरहित दुःख लहें चिरकाल तक ॥

जिनभावना से रहित अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से रहित मात्र द्रव्यलिंग धारण कर लेने वाला नग्न व्यक्ति दुःखों को प्राप्त करता है, चिरकाल तक संसार-सागर में परिभ्रमण करता है । ऐसा नग्न व्यक्ति बोधि को प्राप्त नहीं होता ।

यह गाथा अष्टपाहुड़ के भावपाहुड़ की ६८वीं गाथा है । इसमें बताया गया है कि जिनभावना से रहित मुनिवर अनन्तकाल तक दुःख पाते हैं ।

जिनभावना से रहित मुनिराज निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से रहित होने से अनन्त काल तक संसार सागर में घूमते रहते हैं, भटकते रहते हैं, दुःख भोगते रहते हैं ।

निश्चय रत्नत्रय बिना कोरे नग्न दिगम्बर वेश धारण करने से दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता । ऐसे नग्न वेशधारी दुःख ही प्राप्त करते हैं । उन्हें बोधि की प्राप्ति नहीं होती ।

यद्यपि यह सत्य है कि नग्न दिगम्बर दशा धारण किये बिना किसी को मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती; तथापि निश्चय रत्नत्रय के बिना दिगम्बर वेशधारियों को भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती; वे संसार सागर में ही गोते खाते रहते हैं ।

भावरहित को सिद्धि नहीं

(७६)

भावरहिओ ण सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ।
जम्मंतराइ बहुसो लंबियहत्थो गलियवत्थो ॥

(हरिगीत)

वस्त्रादि सब परित्याग कोड़ाकोड़ि वर्षों तप करें।
पर भाव बिन ना सिद्धि हो सत्यार्थ यह जिनवर कहें ॥

वस्त्रादि त्यागकर, हाथ लम्बे लटकाकर, जन्मजन्मान्तरों में कोटि-कोटि वर्षों तक तपश्चरण करें तो भी भाव रहित को सिद्धि प्राप्त नहीं होती। तात्पर्य यह है कि अंतरंग में भावों की शुद्धि बिना बाह्य में कितना ही तपश्चरण करे, कोई लाभ प्राप्त होने वाला नहीं है।

यह गाथा अष्टपाहुड़ शास्त्र के भावपाहुड़ की चौथी गाथा है। इसमें कहा गया है कि वस्त्रादि सभी परिग्रहों का त्याग कर दे और लम्बे हाथ लटका कर करोड़ों वर्ष तप करे; फिर भी भावरहित श्रमण को मुक्ति प्राप्त नहीं होगी।

जगत में कुछ लोग उन लोगों को बहुत बड़ा तपस्वी मानते हैं; जो लम्बे हाथ लटका कर अनेक जन्म-जन्मान्तरों तक करोड़ों-करोड़ों वर्षों तक तप करते हैं।

लम्बे हाथ लटका कर खड़े होने में, अन्य कष्ट तो जो हैं, सो हैं ही; विशेष बात यह है कि ऐसी स्थिति में नग्नता स्पष्ट दिखाई देती है।

यदि मन में कोई विकृति हो तो उसके प्रगट हो जाने की आशंका निरन्तर बनी रहती है। तत्संबंधी सावधानी भी अत्यन्त आवश्यक है।

ऐसी उग्र तपस्या करनेवाले भी यह नहीं समझते कि शुद्धोपयोगरूप भाव के बिना जड़देह की क्रिया से तो कुछ भी होनेवाला नहीं है। मुक्ति की प्राप्ति होनेवाली नहीं है, कार्यसिद्धि होनेवाली नहीं है। इसप्रकार हम देखते हैं कि भावशुद्धि के बिना कुछ भी होना संभव नहीं है। ●

द्रव्य से तो सभी नग्न होते हैं

(७७)

द्वेण सयल णग्गा णारयतिरिया य सयलसंघाया।
परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता ॥

(हरिगीत)

नारकी तिर्यच आदिक देह से सब नग्न हैं।
सच्चे श्रमण तो हैं वही जो भाव से भी नग्न हैं ॥

द्रव्य से बाह्य में तो सभी प्राणी नग्न होते हैं। नारकी व तिर्यच जीव तो सदा नग्न रहते ही हैं, स्पर्शन इन्द्रिय के विषय पोषण आदि कारण पाकर मनुष्यादि भी नग्न होते देखे जाते हैं। कुछ जंगली जातियों के स्त्री-पुरुष आज भी नग्न रहते देखे जाते हैं। समय-समय पर डिस्कवरी चैनल पर ऐसे अनेक कार्यक्रम आते हैं; जिनमें नग्न रहनेवाली जातियों को दिखाया जाता है। पर वे सभी परिणामों के अशुद्ध होने से भावश्रमणपने को प्राप्त नहीं होते।

यह गाथा अष्टपाहुड़ शास्त्र के भावपाहुड़ की ६७वीं गाथा है। इसमें यह कहा गया है कि शरीर से तो पशु आदि सभी नग्न होते हैं। सच्चा दिगम्बर साधु तो वही है, जो भाव से भी नग्न हो।

यद्यपि यह परम सत्य है कि नग्न दिगम्बर वेश धारण किये बिना किसी को भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती; तथापि यह भी उतना ही बड़ा सत्य है कि भाव बिना, शुद्धोपयोगरूप भाव बिना नग्न दिगम्बरों को भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

फिर भी कुछ लोग नग्नता के अभिमान में भावों पर ध्यान ही नहीं देते; यहाँ उन्हें समझाते हुए नग्नता की निरर्थकता और भावों की सार्थकता पर विशेष बल दिया है। अनेक तर्क और युक्तियों के आधार पर यह समझाया जा रहा है कि हमें बाह्य क्रियाकाण्ड की अपेक्षा भावों पर ध्यान देना चाहिए। ●

यदि थोड़ा भी परिग्रह हो तो...

(७८)

जह जायरूवसरिसो तिलतुसमेतं ण गिहदि हत्थेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं ततो पुण जाइ णिग्गोदं॥

(हरिगीत)

जन्मते शिशुवत अकिंचन नहीं तिलतुष हाथ में।
किंचित् परिग्रह साथ हो तो श्रमण जाँय निगोद में॥

जैसा बालक जन्मता है, साधु का रूप वैसा ही नग्न होता है। उसके तिल-तुष मात्र भी परिग्रह नहीं होता। यदि कोई साधु थोड़ा-बहुत भी परिग्रह ग्रहण करता है तो वह निश्चित रूप से निगोद जाता है।

यह गाथा अष्टपाहुड ग्रन्थ के सूत्रपाहुड नामक पाहुड की १८वीं गाथा है। इसमें कहा गया है कि श्रमण के रंचमात्र भी परिग्रह नहीं होता। यदि हो तो उस श्रमण का निगोद में जाना नक्की है।

हमारे साधुओं का स्वरूप तो वैसा ही होता है; जैसा एक बच्चे का स्वरूप जन्म लेते समय होता है। उस समय उसके हाथ में/साथ में तिलतुष मात्र परिग्रह नहीं होता। यदि रंचमात्र भी परिग्रह मुनिराजों के पास हो तो वे उसके फल में निगोद जाते हैं।

जैनदर्शन में किसी भी अपराध की सबसे बड़ी सजा, सबसे बड़ी जेल निगोद है। वहाँ इस जीव को अनंत दुःख उठाने पड़ते हैं।

प्रश्न हू अभी तो आपने कहा था कि जीव निगोद में मिथ्यात्व के कारण जाता है और अभी यहाँ कह रहे हैं कि जीव परिग्रह के कारण निगोद जाता है।

उत्तर हू दोनों ही बातें सही हैं; क्योंकि मिथ्यात्व ही तो सबसे बड़ा परिग्रह है। चौबीस प्रकार के परिग्रहों में मिथ्यात्व सबसे बड़ा और नम्बर एक का परिग्रह है।

मिथ्यात्व के वश होकर जीव घोर पाप करता है और निगोद जाता है।

श्रमण नहीं, तिर्यच हैं

(७९-८१)

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो॥
रागं करेदि णिच्चं महिलावग्गं परं च दूसेदि।
दंसणणाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो॥
पव्वज्जहीणगहिणं णोहं सीसम्मि वट्टे बहुसो।
आयारविणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो॥

(हरिगीत)

जो आर्त होते जोड़ते रखते रखाते यत्न से।
वे पाप मोहितमती हैं वे श्रमण नहीं तिर्यच हैं॥
राग करते नारियों से दूसरों को दोष दें।
सद्ज्ञान-दर्शन रहित हैं वे श्रमण नहीं तिर्यच हैं॥
श्रावकों में शिष्यगण में नेह रखते श्रमण जो।
हीन विनयाचार से वे श्रमण नहीं तिर्यच हैं॥

निर्ग्रन्थ नग्न दिगम्बर लिंग धारण करके भी जो बहुत प्रयत्न करके परिग्रह का संग्रह करता है, उसमें सम्मोहित होता है, उसकी रक्षा करता है, उसके लिए आर्तध्यान करता है; वह पाप से मोहित बुद्धिवाला श्रमण, श्रमण नहीं, पशु है, अज्ञानी है।

निर्ग्रन्थ दिगम्बर लिंग धारण करके भी जो महिलावर्ग में राग करता है, उनसे रागात्मक व्यवहार करता है, प्रीतिपूर्वक वार्तालाप करता है तथा अन्य निर्दोष श्रमणों या श्रावकों को दोष लगाता है; सम्यग्दर्शन-ज्ञान से रहित वह श्रमण, श्रमण नहीं, तिर्यच योनिवाला है, पशु है, अज्ञानी है।

जो भेषधारी दीक्षा रहित गृहस्थों और शिष्यों में बहुत स्नेह रखता

है और मुनि के योग्य आचरण तथा विनय से विहीन होता है; वह श्रमण, श्रमण नहीं, पशु है, अज्ञानी है।

ये गाथायें भी अष्टपाहुड़ के लिंगपाहुड़ की ५वीं, १७वीं और १८वीं गाथायें हैं। इन गाथाओं में प्रत्येक में उन्हें श्रमण होते हुए भी तिर्यच कहा गया है।

तीनों गाथाओं का अन्तिम पद इसप्रकार है ह

तिरिक्खजोणी ण सो समणो ह्व वे श्रमण नहीं, तिर्यच हैं।

उक्त गाथाओं को ध्यान से पढ़ने पर दो बातों की ओर विशेष ध्यान जाता है ह

१. आचार्य कुन्दकुन्ददेव के काल में भी, आज से लगभग दो हजार वर्ष पहले भी, साधुचर्या में इतना शिथिलाचार आ गया था कि दिगम्बर साधुगण भी परिग्रह जोड़ने लगे थे, उसकी अनेक प्रकार से रक्षा करते थे, उसके लिए आर्तध्यान करते हैं।

दूसरी ओर उनकी कटु आलोचना भी हो रही थी।

बात यहाँ तक बढ़ गई थी कि कुन्दकुन्द जैसे समर्थ और आध्यात्मिक आचार्य को भी इसमें उपयोग लगाना पड़ रहा था।

नग्नता दाव पर लग रही थी, दिगम्बर दशा दाव पर लग रही थी। कहा जा रहा था कि कुछ भी हो, पर वे श्रमण नहीं हैं, सच्चे दिगम्बर साधु नहीं हैं। उनके साधुत्व पर प्रश्नचिह्न खड़ा हो रहा था।

२. वर्तमान के साधुओं और उन्हें माननेवाले, पूजनेवालों को पता चल रहा है कि नग्न दिगम्बर साधुओं में भी कैसे-कैसे दोष हो सकते हैं? उक्त प्रमाणों के आधार पर कुछ लोग आज दिखाई देनेवाले दोषों पर पर्दा डाल रहे हैं। कह रहे हैं कि ऐसे दोष तो कुन्दकुन्द के समय में भी होने लगे थे। यदि आज हो रहे हैं तो इसमें क्या आश्चर्य है?

अतः सर्वत्र सावधानी अपेक्षित है। मात्र वेष देखकर समर्पित हो जाना बुद्धिमानी नहीं है।

पार्श्वस्थ से भी निकृष्ट

(८२)

दंसणणाणचरित्ते महिलावग्गम्मि देदि वीसट्टो ।
पासत्थ वि हु णियट्टो भावविणट्टो ण सो समणो ॥

(हरिगीत)

पार्श्वस्थ से भी हीन जो विश्वस्त महिला वर्ग में।

रत ज्ञान दर्शन चरण दें वे नहीं पथ अपवर्ग में॥

जो साधु वेष धारण करके महिलाओं में विश्वास उत्पन्न करके उन्हें दर्शन-ज्ञान-चारित्र देता है, उन्हें पढ़ाता है, दीक्षा देता है, प्रवृत्ति सिखाता है ह इसप्रकार उनमें प्रवर्तता है; वह तो पार्श्वस्थ से भी निकृष्ट है, प्रकट रूप से भाव से विनष्ट है, वह श्रमण नहीं है।

यह गाथा अष्टपाहुड़ के लिंगपाहुड़ की २०वीं गाथा है। इसमें अकेले द्रव्यलिंग की निरर्थकता बताई गई है।

साधु वेश में महिलाओं से नजदीकी बढ़ाना, उन्हें दीक्षा देना, पढ़ाना, अनेक प्रकार की प्रवृत्तियों में लगाना ह आदि क्रियाओं में प्रवृत्त साधु पार्श्वस्थ साधु हैं। वनवास से विरत होकर नगर के समीप आ जाने वाले भी पार्श्वस्थ हैं। पार्श्व में स्थित अर्थात् बगल में स्थित साधु पार्श्वस्थ साधु है।

उक्त संदर्भ में एक छन्द आत्मानुशासन में प्राप्त होता है; जो इसप्रकार है ह

इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्या यथा मृगाः ।

वनाद्विशन्त्युपग्रामम् कलौ कष्टं तपस्विनः ॥^१

जिसप्रकार मृग दिन के समय वन में भ्रमण करे, रात्रि के समय सिंहादिक के भय से वन छोड़कर गाँव के समीप आकर रहते हैं;

१. आचार्य गुणभद्र, आत्मानुशासन, श्लोक १९७

उसीप्रकार कलिकाल में मुनि भी दिन के समय वन में निवास कर रात्रि के समय गाँव के समीप आ जाते हैं। सो हाय ! हाय !! बड़ा कष्ट है। मुनि तो महानिर्भय होते हैं, वे मृगों के समान गाँव के समीप आकर कैसे बसते हैं।

भगवती आराधना में पार्श्वस्थ साधुओं का स्वरूप इसप्रकार स्पष्ट किया गया है ह

“जो सुखस्वभाव होने से अकारण ही अयोग्य का सेवन करता है, वह पार्श्वस्थ कहलाता है।

निरतिचार संयममार्ग को जानते हुए भी उसमें नहीं प्रवर्तता, किन्तु संयममार्ग के पार्श्व में रहता है। जो एकान्त से संयत भी नहीं और न ही निरतिचारसंयमी है, वह पार्श्वस्थ कहलाता है।”

उन पार्श्वस्थों से भी हीन प्रवृत्तिवाले साधुओं को यहाँ तिर्यच कहा जा रहा है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने जिस कठोरता से श्रमणों के शिथिलाचार का निषेध किया है; वह अपने आप में अद्भुत है; उनके कठोर प्रशासक रूप को प्रदर्शित करता है। आज समाज को उन जैसे कठोर प्रशासक आचार्य की आवश्यकता है।

परिग्रह का संग्रह और महिलाओं के प्रति आकर्षण श्रावकों के लिए अनर्थकर होता है; तो फिर श्रमणों के लिए तो अक्षम्य अपराध है।

सन्तों और श्रावकों को सजग होने की महती आवश्यकता है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने अष्टपाहुड़ ग्रन्थ में सन्तों के जिस रूप की अति कठोर शब्दों में आलोचना की है; उन्हें वे स्वयं भी द्रव्यलिंगी नहीं मानते; अपितु नटश्रमण कहते हैं। वस्तुतः बात यह है कि न तो भावलिंगी हैं, न द्रव्यलिंगी; वे उनकी दृष्टि में नटश्रमण हैं, उन्होंने तो नटों जैसा वेश धारण किया है। ●

१. पण्डित अशाधरजी, भगवती आराधना, मूलाचार टीका, १९५०

केवल द्रव्यलिंग से कार्य नहीं होता

(८३)

धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमेत्तेण धम्मसंपत्ती ।
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो ॥

(हरिगीत)

धर्म से हो लिंग केवल लिंग से न धर्म हो।

समभाव को पहिचानिये द्रव्यलिंग से क्या कार्य हो? ॥

धर्मसहित तो लिंग होता है, परन्तु लिंगमात्र से धर्म की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिए हे भव्यजीव ! तू भावरूप धर्म को जान, केवल लिंग से तेरा क्या कार्य सिद्ध होता है? तात्पर्य यह है कि अंतरंग निर्मल परिणामों सहित लिंग धारण करने से ही धर्म की प्राप्ति होती है।

यह गाथा भी अष्टपाहुड़ के लिंगपाहुड़ की दूसरी गाथा है। इस गाथा में यह समझाया गया है कि अकेला लिंग धारण करने से, दिगम्बर वेष धारण कर लेने से काम होनेवाला नहीं है, धर्म होनेवाला नहीं है, मुक्ति प्राप्त होनेवाली नहीं है।

धार्मिक वृत्ति और प्रवृत्ति से लिंग (वेश) की शोभा है।

दिगम्बर समाज में दिगम्बर सन्तों के प्रति जो अपार श्रद्धा है; वह हमारे लिए गौरव की बात है; किन्तु चिन्ता का विषय यह है कि वह अपार श्रद्धा निरंकुशता का कारण बन रही है, शिथिलाचार का कारण बन रही है।

वह श्रद्धा अंधश्रद्धा में परिणमित हो रही है।

अतिचार की बात तो बहुत दूर, वे लोग तो अनाचारों पर भी ध्यान नहीं देते।

झगड़ा द्रव्यलिंग और भावलिंग का नहीं; नटश्रमणों के अनाचारों का है।

नरक निगोद की बात द्रव्यलिंगियों की नहीं; द्रव्यलिंगी तो नवमें त्रैवेयक तक जाते हैं।

अष्टपाहुड़ में तो दिगम्बर वेष धारण करके भी परिग्रह का संग्रह, महिलावर्ग का सम्मोहन, असंयमी शिष्यों का अति परिचय, समागम करने वालों को नटश्रमण कहा है। ऐसे लोगों से समाज को बचाना ही आचार्यश्री कुन्दकुन्द का उद्देश्य है।

यह भ्रष्टों पर आक्रोश नहीं, अपितु आचार्यदेव की परम करुणा है। ऐसी परिणति से भविष्य में होनेवाले अनन्त दुःखों से बचाने का भाव है; अतः करुणाभाव है।

यदि हम साधारण गृहस्थ समाज को नहीं बचा सकते तो कोई बात नहीं स्वयं को तो बचा ही सकते हैं; पर इस दिशा में भी कोई प्रयास दिखाई नहीं देता।

हम सभी आँख मीच कर बैठ गये हैं।

हमारे महाभाग्य से आज भी मार्ग तो उपलब्ध है और मार्गदर्शक भी विद्यमान हैं।

मुक्तिमार्ग के सशक्त प्रतिपादक परमागम बड़ी सुगमता से उपलब्ध हैं, उनका मर्म समझानेवाले ज्ञानी धर्मात्मा भी प्राप्त हैं, क्षयोपशम की भी कमी नहीं है; पर न जानें क्यों जगत को रास्ता सूझता ही नहीं।

क्या करें ? होनहार का विचार कर ही समता आती है। ●

कौन किसका विरोधी है ? कोई किसी का शाश्वत विरोधी और मित्र नहीं होता। जो आज विरोधी लगता है, कल वही मित्र हो जाता है। जो मित्र है, उसे विरोधी होते क्या देर लगती है ? यह सब तो राग-द्वेष का खेल है, मिथ्यात्व की महिमा है; वैसे तो सभी आत्मा भगवानस्वरूप हैं। यह क्यों कहते हो कि विरोधी कमजोर हो गए हैं, यह कहो न कि उनका विरोध कमजोर हो गया है, अतः अब वे हमारे मित्र बन रहे हैं। हमें विरोधियों को नहीं, विरोध को मिटाना है। जब विरोध मिट जावेगा तो विरोधी ही मित्र बन जावेंगे।

ह्र सत्य की खोज, पृष्ठ २३५

तम्हा कम्मोसु मा रज्ज

(८४)

रत्तो बन्धदि कम्मं मुच्चदि जीवो विरागसंपत्तो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मोसु मा रज्ज ॥

(हरिगीत)

विरक्त शिवरमणी वरें अनुरक्त बाँधे कर्म को ।
जिनदेव का उपदेश यह मत कर्म में अनुरक्त हो ।

रागी जीव कर्म बाँधता है और वैराग्य-सम्पन्न जीव कर्मों से छूटता है ह्र ऐसा जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है; अतः हे भव्यजीवो ! शुभाशुभ कर्मों में राग मत करो ।

यह गाथा समयसार ग्रंथाधिराज की १५०वीं गाथा है। इसमें यह बताया गया है कि मूल बात मात्र इतनी ही है कि रागी जीव बंधते हैं और विरक्त जीव मुक्ति प्राप्त करते हैं। इसलिए कर्मों में राग मत करो ।

यहाँ रागी शब्द का अर्थ सामान्य राग नहीं लेना, अपितु शुभाशुभ राग में एकत्व-ममत्व बुद्धिरूप राग लेना चाहिए, रागभावों का स्वयं को कर्ता-भोक्ता माननेरूप राग लेना चाहिए तथा शुभभावों में धर्म माननेरूप राग लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व संबंधी राग लेना चाहिए। शुभराग को धर्म मानना ही मिथ्यात्व है और उसी को यहाँ राग कहा गया है। ऐसे राग से संयुक्त जीव रागी है तथा वही कर्मों को बाँधता है और कर्मों से बँधता है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि अशुभभावों के समान शुभभाव भी बंध के कारण होने से मोक्ष के हेतु नहीं हैं; मोक्ष का हेतु तो एकमात्र वीतरागभाव ही है, ज्ञानभाव ही है।

इस गाथा की टीका में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कलश आया है; जो इसप्रकार है ह्र

(शिखरिणी)

निषिद्धे सर्वास्मिन् सुवृत्तदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्वर्त्येन खलु मुनयः सन्त्यशरणाः ।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं
स्वयं विन्दन्त्येते परममृतं तत्र निरताः ॥१०४॥

(रोला)

सभी शुभाशुभभावों के निषेध होने से ।
अशरण होंगे नहीं रमेंगे निज स्वभाव में ॥
अरे मुनीश्वर तो निशदिन निज में ही रहते ।
निजानन्द के परमामृत में ही नित रमते ॥१०४॥

सुकृत (पुण्य) और दुष्कृत (पाप) हूँ सभी प्रकार के कर्मों का निषेध किये जाने पर निष्कर्म अवस्था में प्रवर्तमान निवृत्तिमय जीवन जीनेवाले मुनिजन कहीं अशरण नहीं हो जाते; क्योंकि निष्कर्म अवस्था में ज्ञान में आचरण करता हुआ, रमण करता हुआ, परिणामन करता हुआ ज्ञान ही उन मुनिराजों की परम शरण है। वे मुनिराज स्वयं ही उस ज्ञानस्वभाव में लीन रहते हुए परमामृत का पान करते हैं, अतीन्द्रियानन्द का अनुभव करते हैं, स्वाद लेते हैं।

उक्त छन्द में आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि कोई व्यक्ति यह कहे कि यदि हम शुभ और अशुभ दोनों ही भावों का निषेध कर देंगे तो फिर सर्व कार्यों से निवृत्ति ले लेनेवाले मुनिराज क्या करेंगे ? उन्हें तो कोई काम ही नहीं रहेगा ।

आचार्यदेव का यह सोचना गलत भी नहीं है; क्योंकि हम आज भी लोगों को इसप्रकार की चर्चा करते देखते हैं। स्वयं को मुनि मानने वाले अनेक लोग आज भी शुभकार्यों में संलग्न देखे जाते हैं। वे शुभभावों और शुभप्रवृत्ति को ही धर्म मानते हैं, जानते हैं और उसमें ही धर्म मानकर नित्य प्रवृत्त रहते हैं।

ऐसे लोगों को समझाने की भावना से उक्त छन्द की रचना हुई है,

जिसमें आचार्यदेव कहते हैं कि उनके लिए तो रमण करने के लिए उनका ज्ञानस्वभावी आत्मा सदा उनके पास ही विद्यमान है, वे तो निरंतर अपने आत्मा में ही रमण करते हैं, वे निठल्ले नहीं हैं। वे सदा ही अपने आत्मा की आराधना में लीन रहते हैं, उन्हें शुभभाव करने की, शुभाशुभ प्रवृत्ति करने की फुर्सत ही कहाँ है ?

अरे भाई ! शुभभाव मुनियों की शरण नहीं है, उनका शरण तो उनका ही भगवान आत्मा है। आत्मा का ज्ञान, आत्मा का श्रद्धान और आत्मा का ध्यान हूँ ये ऐसे महान कार्य हैं, जिनमें मुनिराज निरन्तर व्यस्त रहते हैं, शुभभावों में शरण खोजने की उन्हें रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

शुभभाव को ही धर्म माननेवालों को यह चिन्ता सताती है कि यदि शुभभाव का भी निषेध करेंगे तो मुनिराज अशरण हो जायेंगे, उन्हें करने के लिए कोई काम नहीं रहेगा। आत्मा के ज्ञान, ध्यान और श्रद्धानमय वीतरागभाव की खबर न होने से ही अज्ञानियों को ऐसे विकल्प उठते हैं; किन्तु शुभभाव होना कोई अपूर्व उपलब्धि नहीं है; क्योंकि शुभभाव तो इस जीव को अनेकबार हुए हैं, पर उनसे भव का अन्त नहीं आया। यदि शुभभाव नहीं हुए होते तो यह मनुष्य भव ही नहीं मिलता।

यह मनुष्य भव और ये अनुकूल संयोग ही यह बताते हैं कि हमने पूर्व में अनेकप्रकार के शुभभाव किये हैं; पर दुःखों का अन्त नहीं आया है। अतः अब एकबार गंभीरता से विचार करके यह निर्णय करें कि शुभभाव में धर्म नहीं है, शुभभाव कर्तव्य नहीं है; धर्म तो वीतरागभावरूप ही है और एकमात्र कर्तव्य भी वही है। वे वीतरागभाव आत्मा के आश्रय से होते हैं; अतः अपना आत्मा ही परमशरण है।

जिन मुनिराजों को निज भगवान आत्मा का परमशरण प्राप्त है, उन्हें अशरण समझना हमारे अज्ञान को ही प्रदर्शित करता है। ●

वे परमार्थ से बाह्य हैं

(८५)

परमदुर्बाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
संसारगमणहेदुं पि मोक्खहेदुं अजाणंता ॥

(हरिगीत)

परमार्थ से हैं बाह्य वे जो मोक्षमग नहीं जानते ।
अज्ञान से भवगमन-कारण पुण्य को हैं चाहते ॥

जो जीव वीतरागभाव रूप मोक्षमार्ग को नहीं जानते हैं तथा संसार-परिभ्रमण का हेतु होने पर भी अज्ञान से पुण्य को मोक्षमार्ग मानकर चाहते हैं, वे जीव परमार्थ से बाहर हैं । तात्पर्य यह है कि उन्हें कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी ।

यह गाथा समयसार शास्त्र की १५४वीं गाथा है । इसमें बताया गया है कि जो लोग सच्चे मुक्ति के मार्ग को तो जानते नहीं हैं, परम+अर्थ=परमार्थ=सच्चे भगवान आत्मा को तो जानते नहीं हैं और पुण्य को मोक्ष का मार्ग जानकर पुण्य को चाहते हैं, अपनाते हैं; उन्हें मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती ।

यहाँ यह कहा जा रहा है कि जो जीव परमार्थ से बाह्य हैं अथवा परमार्थ में अस्थित हैं; त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा को नहीं जानते हैं; उनके व्रत, नियम, तप, शील हूँ सभी व्यर्थ हैं । उन्हें आत्मज्ञान बिना मात्र इन व्रतादि से मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

तात्पर्य यह है कि आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान से संयुक्त ज्ञानीजन व्रत, तप, शीलादि के बिना भी मुक्त होते देखे जाते हैं ।

आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान से शून्य अज्ञानीजन व्रत-नियमादि का पालन करते हुए भी मुक्त नहीं होते; इसकारण यह सहज ही सिद्ध है कि आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यानरूप आत्मज्ञान ही मुक्ति का एकमात्र हेतु है ।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यदि आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान के सद्भाव में ज्ञानियों को व्रत, नियम, शील व तपादि के बिना भी मुक्ति प्राप्त हो सकती है तो फिर तो ज्ञानियों को विषय-व्यापार में प्रवृत्त होना भी पाप नहीं होगा; क्योंकि व्रत-नियमादि में विषय-व्यापार का ही तो त्याग होता है । विषय-व्यापार के त्याग का नाम ही तो व्रत है, नियम है, शील है ।

आचार्य जयसेन ने स्वयं इसप्रकार का प्रश्न उपस्थित कर, इसका तर्कसंगत उत्तर दिया है; जो इसप्रकार है ह

“शंका हूँ व्रत, नियम, शील एवं बहिरंग तपश्चरणादिक के बिना भी यदि मोक्ष होता है तो फिर तो संकल्प-विकल्प रहित ज्ञानियों का विषय-व्यापार में रहना भी पाप नहीं होगा और यदि तपश्चरण के अभाव में भी मोक्ष होता है तो इससे तो सांख्य और शैवमत की ही सिद्धि होगी ।

समाधान हूँ यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि यह तो हम अनेक बार कह चुके हैं कि निर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिलक्षण भेदज्ञान सहित जीवों को मोक्ष होता है । इसप्रकार के भेदज्ञान के समय तो मन, वचन और काय का वह शुभरूप व्यापार भी नहीं रहता, जिसे परम्परा से मुक्ति का कारण कहा जाता है; तो फिर विषय-कषायरूप अशुभ व्यापार के होने का सवाल ही कहाँ रहता है ?

जिसप्रकार चावल के अंतरंग तुष (लाल कण) के चले जाने पर बहिरंग तुष (छिलका) नहीं रह सकता; उसीप्रकार चित्त में स्थित रागभाव के नष्ट हो जाने पर बहिरंग विषयव्यापार भी दिखाई नहीं देता ।

जिसप्रकार परस्पर विरुद्धस्वभाववाले होने से जहाँ शीतलता होती है, वहाँ उष्णता नहीं होती और जहाँ उष्णता होती है, वहाँ शीतलता नहीं होती; उसीप्रकार परस्पर विरुद्धस्वभाववाले होने से जहाँ-जहाँ निर्विकल्प समाधिलक्षण भेदविज्ञान होता है, वहाँ विषय-कषायरूप व्यापार नहीं

होता और जहाँ विषय-कषायरूप व्यापार होता है, वहाँ निर्विकल्प समाधिलक्षण भेदविज्ञान नहीं होता।”

तात्पर्य यह है कि मुक्ति का साक्षात् कारण तो शुद्धोपयोग दशा है और शुद्धोपयोगरूप दशा में जब वह शुभोपयोग भी नहीं रहता, जिसे परम्परा से मुक्ति का कारण कहा जाता है; तो फिर अशुभोपयोग के रहने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

शुद्धोपयोग तो शुभोपयोग और अशुभोपयोग तथा शुभ प्रवृत्ति और अशुभ प्रवृत्ति हूँ इन सभी के अभाव में उत्पन्न होने वाली स्थिति है।

इसप्रकार इन गाथाओं में भी यही कहा गया है कि ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है।

पर से भिन्न निज को जानने से क्या मतलब ? क्या पर को नहीं जानना है; मात्र पर से भिन्न निज को जानना है ?

पर को जानना है, पर उसे मात्र जानना हूँ उसमें जमना नहीं, रमना नहीं, उसमें डटना नहीं; उससे हटना है। जबकि निज को जानकर उसमें जमना भी है; रमना भी है, उसी में समा जाना है। अपने में ही समा जाना भेद-विज्ञान का फल है। पर को भी जानना है, पर उसकी गहराई में नहीं जाना है। निज को जानना भी है और उसकी गहराई में भी जाना है।

क्यों ?

क्योंकि पर को जानना हमारा मूल प्रयोजन नहीं है। निज को जानना, मानना, निज में ही जमना, रमना आत्मार्थी का मूल प्रयोजन है। पर को तो मात्र इसलिए जानना है कि पर को निज न मान लिया जाए। अतः निज को तो, निज को जानने के लिए जानना ही है, परन्तु पर को भी निज को जानने के लिए जानना है। निज को जानना मूल प्रयोजन है, क्योंकि निज को जानने में ही अपना हित है। पर को, जानो तो ठीक, न जानो तो ठीक, जब आत्मा का 'जानना' स्वभाव है तो पर भी जानने में आ ही जाता है।

हूँ सत्य की खोज, पृष्ठ ९५-९६

जो संसार में प्रवेश कराये ?

(८६-८७-८८)

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥
सोवणियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥
तम्हा दु कुसीलेहि य रागं मा कुणह मा व संसग्गं ।
साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण ॥

(हरिगीत)

सुशील हैं शुभकर्म और अशुभ कर्म कुशील हैं।
संसार के हैं हेतु वे कैसे कहें कि सुशील हैं? ॥
ज्यों लोह बेड़ी बाँधती त्यों स्वर्ण की भी बाँधती।
इस भाँति ही शुभ-अशुभ दोनों कर्म बेड़ी बाँधती ॥
दुःशील के संसर्ग से स्वाधीनता का नाश हो।
दुःशील से संसर्ग एवं राग को तुम मत करो ॥

अज्ञानीजनों को सम्बोधित करते हुए आचार्य कहते हैं कि तुम ऐसा जानते हो कि शुभकर्म सुशील हैं और अशुभकर्म कुशील है, पर जो शुभाशुभ कर्म संसार में प्रवेश कराते हैं, उनमें से कोई भी कर्म सुशील कैसे हो सकता है ?

तात्पर्य यह है कि शुभ और अशुभ दोनों ही कर्म कुशील ही हैं, कोई भी कर्म सुशील नहीं होता।

जिसप्रकार लोहे की बेड़ी पुरुष को बाँधती है, उसीप्रकार सोने की बेड़ी भी बाँधती ही है। इसीप्रकार जैसे अशुभकर्म (पाप) जीव को बाँधता है, वैसे ही शुभकर्म (पुण्य) भी जीव को बाँधता ही है। बंधन में डालने की अपेक्षा पुण्य-पाप दोनों कर्म समान ही हैं।

सचेत करते हुए आचार्य कहते हैं कि पुण्य-पाप इन दोनों कुशीलों के साथ राग मत करो, संसर्ग भी मत करो; क्योंकि कुशील के साथ संसर्ग और राग करने से स्वाधीनता का नाश होता है।

ये गाथायें समयसार परमागम के पुण्य-पाप अधिकार की १४५, १४६ एवं १४७वीं गाथाएँ हैं। इनमें कहा गया है कि शुभ कर्म भी सुशील नहीं हो सकता; क्योंकि वह संसार में प्रवेश कराता है। जिसप्रकार लोहे की बेड़ी के समान सोने की बेड़ी भी बाँधती है; उसीप्रकार पाप के समान पुण्य भी जीव को बाँधता है। अतः पाप के समान पुण्य को भी कुशील जानकर पुण्य और पाप से राग व संसर्ग मत करो।

लौकिकजन ऐसा मानते हैं कि शुभकर्म सुशील हैं, अच्छे हैं, करने योग्य हैं और अशुभकर्म कुशील हैं, बुरे हैं, त्यागने योग्य हैं; किन्तु ज्ञानीजन कहते हैं कि जब शुभ और अशुभ हूँ दोनों ही कर्म हैं, कर्म होने से संसार के हेतु हैं, संसार-सागर में डुबानेवाले हैं तो फिर उनमें से एक शुभकर्म को सुशील कैसे माना जा सकता है ? जो संसार में प्रवेश कराये, वह सुशील कैसे हो सकता है ?

इन गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया हैह

“जिसप्रकार सोने और लोहे की बेड़ी बिना किसी अन्तर के पुरुष को बाँधती है; क्योंकि बंधन की अपेक्षा उनमें कोई अन्तर नहीं है। उसीप्रकार शुभ और अशुभ कर्म बिना किसी अन्तर के जीव को बाँधते हैं; क्योंकि बंधभाव की अपेक्षा उनमें कोई अन्तर नहीं है।

जिसप्रकार मनोरम हो या अमनोरम, पर कुशील हथिनिरूपी कुट्टनी के साथ राग और संसर्ग करना हाथी के लिए बंधन का कारण होता है; उसीप्रकार शुभ हों या अशुभ, पर कुशील कर्मों के साथ राग और संसर्ग करना जीव के लिए बंधन का कारण होता है। इसकारण यहाँ शुभाशुभ कर्मों के साथ राग और संसर्ग करने का निषेध किया गया है।

जिसप्रकार कोई जंगल का कुशल हाथी अपने बंधन के लिए निकट

आती हुई सुन्दर मुखवाली मनोरम अथवा अमनोरम हथिनिरूपी कुट्टनी को परमार्थतः बुरी जानकर उसके साथ राग या संसर्ग नहीं करता; उसीप्रकार आत्मा अरागी ज्ञानी होता हुआ अपने बंध के लिए समीप आती हुई (उदय में आती हुई) मनोरम या अमनोरम (शुभ या अशुभ) सभी कर्मप्रकृतियों को परमार्थतः बुरी जानकर उनके साथ राग तथा संसर्ग नहीं करता।”

जंगली हाथियों को पकड़ने के लिए जंगल में एक बहुत बड़ा गहरा गड्ढा खोदा जाता है। उसे ढककर ऊपर मिट्टी डालकर दूब-घास और झाड़ियाँ डाल दी जाती हैं, जिससे वह ठोस जमीन ही प्रतीत हो।

जंगली हाथियों को फँसाने के लिए महावत लोग एक चतुर हथिनी को प्रशिक्षित (ट्रेण्ड) करते हैं। वह हथिनी अपनी कामुक चेष्टाओं से जंगली हाथियों को आकर्षित करती है, मोहित करती है और अपने पीछे-पीछे आने के लिए प्रेरित करती है। उनसे नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करती हुई वह हथिनी उन्हें उस गड्ढे के समीप लाती है।

तेजी से भागती हुई वह कुट्टनी हथिनी तो जानकार होने से उस गड्ढे से बचकर निकल जाती है, पर तेजी से पीछा करनेवाला कामुक हाथी भागता हुआ उस गड्ढे में गिर जाता है। इसप्रकार वह अपनी स्वाधीनता खो देता है, बंधन में पड़ जाता है।

वह कुट्टनी हथिनी चाहे सुन्दर हो, चाहे कुरूप हो; पर उसके मोह में पड़नेवाला हाथी बंधन को प्राप्त होता ही है।

उक्त उदाहरण के माध्यम से यहाँ यह समझाया जा रहा है कि कर्म चाहे शुभ हों या अशुभ, पुण्यरूप हों या पापरूप; उनसे राग करनेवाले, उन्हें करने योग्य माननेवाले, उन्हें उपादेय माननेवाले संसाररूपी गड्ढे में गिरते हैं, फँसते हैं, बंधन को प्राप्त होते हैं। अतः कर्म चाहे शुभ हों या अशुभ, पुण्यरूप हों या पापरूप हूँ दोनों से ही राग व संसर्ग नहीं करना चाहिए, उन्हें उपादेय नहीं मानना चाहिए।

मोही हाथी के कुरूप हथिनी की अपेक्षा सुरूप (सुन्दर) हथिनी पर

मोहित होने के अवसर अधिक हैं; इसकारण उक्त कुट्टनी हथिनी का कुरूप होने की अपेक्षा सुरूप होना अधिक खतरनाक है।

उसीप्रकार मोही जीव के पापकर्मों की अपेक्षा पुण्यकर्मों पर मोहित होने के अवसर अधिक हैं; इसकारण पुण्य के संदर्भ में अधिक सावधानी अपेक्षित है।

आचार्य जयसेन इन गाथाओं का अर्थ करते हुए लिखते हैं ह

“रूपलावण्य, सौभाग्य; कामदेव, इन्द्र, अहमिन्द्र; ख्याति, लाभ और पूजादि की भावना से, भोगों की आकांक्षा एवं निदान से जो व्यक्ति व्रत, तपश्चरण, दान, पूजादि करता है; वह पुरुष व्रतादिक को उसीप्रकार व्यर्थ खोता है, जिसप्रकार कोई व्यक्ति छाछ के लिए रत्न बेचता है, राख (भस्म) के लिए रत्नराशि को जलाता है, डोरे के लिए मोतियों के हार को पीस देता है, कोदों (कोद्रव) नाम के अति तुच्छ अनाज के उत्पादन के लिए अगर चन्दन के वन को काटता है; किन्तु शुद्धात्मानुभूति की साधना के लिए जो बाह्य व्रत, तप, दान और पूजादिक करता है, वह परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करता है हू ऐसा भावार्थ है।

इसलिए कुशीलवाले शुभाशुभकर्मों के साथ मानसिक राग मत करो और बहिरंग वचन-कायगत संसर्ग भी मत करो; क्योंकि कुशील के साथ संसर्ग और राग करने से अपनी स्वतंत्रता का, निर्विकल्प समाधि का, प्रयोजनभूत कार्य का और स्वाधीन आत्मसुख का नाश नियम से होता है।”

उक्त उदाहरणों से यह बात भलीभाँति सिद्ध हो जाती है कि मुक्ति के मार्ग में पाप के समान पुण्य भी पूर्णतः हेय है।

इसप्रकार यहाँ आचार्यदेव पाप के समान पुण्य को भी हेय बताकर उससे विरक्त करने का प्रयास कर रहे हैं।



पुण्य और पाप एक

(८९)

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं ।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥

(हरिगीत)

पुण्य-पाप में अन्तर नहीं है हू जो न माने बात ये।

संसार-सागर में भ्रमे मद-मोह से आच्छन्न वे ॥

इसप्रकार जो व्यक्ति ‘पुण्य और पाप में कोई अन्तर नहीं है’ हू ऐसा नहीं मानता है अर्थात् उन्हें समानरूप से हेय नहीं मानता है; वह मोह से आच्छन्न प्राणी अपार घोर संसार में अनन्तकाल तक परिभ्रमण करता है।

यह गाथा प्रवचनसार परमागम के ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार की ७७वीं है। इसमें कहा गया है कि जो यह नहीं मानता कि पुण्य और पाप समान ही हैं; वह अनन्तकाल तक संसार सागर में भ्रमण करेगा।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं हू

“विगत गाथाओं में प्रतिपादित वस्तुस्वरूप के अनुसार जब परमार्थ से शुभाशुभ उपयोग में और सांसारिक सुख-दुःख में द्वैत नहीं ठहरता; तब पुण्य और पाप में द्वैत कैसे ठहर सकता है ? क्योंकि पुण्य और पाप हू दोनों में ही अनात्मधर्मत्व समान है।

तात्पर्य यह है कि पुण्य और पाप हू दोनों ही आत्मा के धर्म नहीं; इसलिए आत्मधर्म के आराधकों को दोनों ही समानरूप से अधर्म हैं।

ऐसा होने पर भी जो जीव उन दोनों में सुवर्ण और लोहे की बेड़ी की भाँति अन्तर मानता हुआ अहमिन्द्रपदादि सम्पदाओं के कारणभूत धर्मानुराग पर अत्यंत निर्भररूप से अवलम्बित है; कर्मोपाधि से विकृत चित्तवाले उस जीव ने शुद्धोपयोग शक्ति का तिरस्कार किया है; इसलिए वह जीव संसारपर्यन्त (जबतक संसार है, तबतक) शारीरिक दुख का ही अनुभव करता है।”

भले ही व्यवहारनय या अशुद्धनिश्चयनय से पुण्य-पापकर्म, पुण्य-पापभाव और उनके फल में प्राप्त होनेवाले सुख-दुख में अन्तर बताया गया हो; तथापि निश्चय से परमसत्य बात तो यही है कि जो व्यक्ति पंचेन्द्रिय विषयों में सुख मानता हुआ जबतक पुण्य में उपादेय बुद्धि रखेगा, उसे पाप के समान ही बंध का कारण नहीं मानेगा; तबतक वह जीव इस मिथ्या मान्यता के कारण संसार में ही परिभ्रमण करेगा।

ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ जिस पुण्यभाव को पापभाव के समान हेय बताया जा रहा है; वह अज्ञानी गृहस्थों के होनेवाले शुभभाव रूप पुण्य नहीं है; अपितु जिस पुण्य से अहमिन्द्रादि पदों की प्राप्ति होती है, ऐसे चौथे काल के मुनिराजों को होनेवाले पुण्य की बात है; क्योंकि गृहस्थ तो अहमिन्द्रादि पद प्राप्त ही नहीं करते हैं। गृहस्थ तो सोलहवें स्वर्ग के ऊपर जाते ही नहीं हैं; वे कल्पोपपन्न ही होते हैं; कल्पातीत नहीं।

इसीप्रकार पंचमकाल में भी कोई अहमिन्द्र पद प्राप्त नहीं करता, इसलिए यह बात चौथे काल के मुनिराजों के शुभभाव की ही है। तात्पर्य यह है कि यहाँ चौथे काल के मुनिराजों के पुण्यभाव को भी पाप भाव के समान हेय बताया गया है तथा इस बात को स्वीकार नहीं करने वालों को अनंतकाल तक भवभ्रमण करना होगा ह्व यह कहा गया है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि पुण्य-पाप में अन्तर माननेरूप छोटे से अपराध की इतनी बड़ी सजा कि वह अनंत कालतक संसार में भ्रमण करेगा। यह ककड़ी के चोर को कटार मारने जैसा अन्याय नहीं है क्या?

अरे भाई ! पुण्य और पाप में अन्तर माननेवाला ककड़ी का चोर नहीं है, छोटा-मोटा दोषी नहीं है; अपितु सात तत्त्व संबंधी भूल करनेवाला बड़ा अपराधी है, मिथ्यात्वी है और मिथ्यात्व का फल तो अनंत संसार है ही।

हिंसादि पाप करनेवाला नरक में जाता है, पशु-पक्षी होता है और अहिंसादि पुण्यभावों को करनेवाला मनुष्य एवं देव होता है; इसप्रकार

हिंसादि पापभावों का फल नरकादि व पुण्यभावों का फल स्वर्गादि है; किंतु मिथ्यात्वादि का फल निगोद है और सम्यक्त्वादि का फल मोक्ष है।

पुण्य में उपादेयबुद्धि, सुखबुद्धि तत्त्वसंबंधी भूल होने से मिथ्यात्व का महा भयंकर पाप है; यही कारण है कि इसप्रकार की भूल करनेवाले तबतक संसार में परिभ्रमण करते हैं, जबतक कि वे अपनी इस भूल को सुधार नहीं लेते। अतः हम सबका भला इसी में है कि हम अपनी भूल सुधार कर इस महापाप से बचें। इसे छोटी-मोटी भूल समझ कर उपेक्षा न करें।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि जिसे नयों के माध्यम से वस्तुस्वरूप का सच्चा ज्ञान नहीं है और जिनवाणी में कथित व्यवहारवचनों का सहारा लेकर विषयसुख प्राप्त करानेवाले पुण्य को भला मानता हुआ, शुभभावों को धर्मरूप जानता हुआ अतिगृद्धता से विषयों में रत रहता है, उन्हें प्राप्त करानेवाले पुण्य परिणामों में धर्म मानकर उसी में संतुष्ट रहता है; ऐसा अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव जबतक अपनी मिथ्यामान्यता को नहीं छोड़ता, निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप सच्चे धर्मको नहीं जानता; तबतक सांसारिक सुख-दुखरूप दुख को भोगता हुआ संसार में ही भटकता रहेगा।

यदि यह आत्मा समय पर नहीं चेता तो यह काल अनंत भी हो सकता है। तात्पर्य यह है कि वह अनंत कालतक अनंत दुख उठाता रहेगा।

अतः भला इसी में है कि हम पंचेन्द्रिय के विषय प्रदान करनेवाले पुण्य को पाप के समान ही बंध का कारण जानकर पाप के समान ही हेय माने, हेय जाने; और उससे विरत हों। धर्म तो एकमात्र शुद्धोपयोग है, शुद्धपरिणति है, वीतराग परिणति है, वीतरागभाव है; वही उपादेय है, वही धारण करनेयोग्य है।

अधिक क्या कहें ह्व इस जीव को शुद्धपरिणति और शुद्धोपयोगरूप वीतरागभाव ही एकमात्र शरण है। ●

इन्द्रियसुख दुःख ही हैं

(१०)

सपरं बाधासहितं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इन्दिरिहं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तथा ॥

(हरिगीत)

इन्द्रियसुख सुख नहीं दुःख है विषम बाधा सहित है ।
है बंध का कारण दुःखद परतंत्र है विच्छिन्न है ॥

इन्द्रियों से भोगा जानेवाला सुख पराधीन है, बाधासहित है, विच्छिन्न है, बंध का कारण है, विषम है; अतः उसे दुःख ही जानो । तात्पर्य यह है कि पुण्योदय से प्राप्त होने वाला सुख, सुख नहीं, दुःख ही है ।

यह गाथा प्रवचनसार परमागम की ७६वीं गाथा है । इस गाथा में यह बताया गया है कि इन्द्रियसुख सुख नहीं, दुःख ही है ।

इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“१. परसंबंधयुक्त होने से, २. बाधासहित होने से, ३. विच्छिन्न होने से, ४. बंध का कारण होने से और ५. विषम होने से वह इन्द्रियसुख पुण्यजन्य होने पर भी दुःख ही है ।

इन्द्रियसुख पर के संबंधवाला होता हुआ पराश्रयता के कारण पराधीन है; बाधासहित होता हुआ खाने, पीने और मैथुन की इच्छा इत्यादि तृष्णा की व्यक्तियों से युक्त होने से अत्यन्त आकुल है; विच्छिन्न होता हुआ असातावेदनीय का उदय जिसे च्युत कर देता है ह ऐसे सातावेदनीय के उदय से प्रवर्तमान होता हुआ अनुभव में आता है, इसलिए विपक्ष की उत्पत्तिवाला है; बंध का कारण होता हुआ विषयोपभोग के मार्ग में लगी हुई रागादि दोषों की सेना के अनुसार कर्मरज के घनपटल का संबंध होने के कारण परिणाम से दुःसह है और

विषम होता हुआ हानि-वृद्धि में परिणमित होने से अत्यन्त अस्थिर है; इसलिए वह इन्द्रियसुख दुःख ही है ।

इसप्रकार यदि इन्द्रियसुख दुःख ही है तो फिर पाप की भाँति पुण्य भी दुःख का ही साधन है ह यह सहज ही प्रतिफलित हो जाता है ।”

आचार्य जयसेन इन्द्रियसुख और अतीन्द्रियसुख की तुलना करते हुए कहते हैं ह इन्द्रियसुख पराधीन है तो अतीन्द्रियसुख स्वाधीन है, इन्द्रियसुख बाधासहित है तो अतीन्द्रियसुख अव्याबाध है, इन्द्रियसुख खण्डित हो जानेवाला है तो अतीन्द्रियसुख अखण्ड है, इन्द्रियसुख बंध का कारण है तो अतीन्द्रियसुख बंध का कारण नहीं है और इन्द्रियसुख विषम अर्थात् हानि-वृद्धि सहित है तो अतीन्द्रियसुख सम अर्थात् हानि-वृद्धि रहित है ।

इसप्रकार उक्त पाँच विशेषताओं के कारण इन्द्रियसुख हेय और अतीन्द्रिय सुख उपादेय है ।

यह एक दिशाबोधक सरल सुबोध गाथा है; जिसमें सांसारिक सुख की दुखरूपता को अत्यन्त मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है । इसमें कहा गया है कि यह अज्ञानी जगत जिस विषयसुख की कामना करता है, जिसके लिए आकाश-पाताल एक कर देता है, सागर में गोता लगाता है, आकाश में गुलाचें भरता है और जमीन को फोड़कर पाताल में जाने को तैयार रहता है, इसप्रकार इस बेशकीमती नरभव को दाव पर लगा देता है; आखिर उस सुख में ऐसा है ही क्या ?

वस्तुतः यह इन्द्रियसुख सुख ही नहीं है । यह तो आकुलतारूप होने से दुःख ही है ।

इस गाथा में इसे दुःखरूप सिद्ध करने के लिए पाँच कारण दिए हैं ।

सबसे पहली बात तो यह है कि यह पराधीन है । यह तो जगत में प्रसिद्ध ही है कि पराधीन सपनेहु सुख नहीं ह पराधीन व्यक्ति को स्वप्न में भी सुख की प्राप्ति नहीं होती । यह संसारी प्राणी इन्द्रियों के आधीन

है। यदि इन्द्रियाँ भोगने के काबिल नहीं हुईं तो प्राप्त भोग्य सामग्री और अधिक संताप देती है। दूसरे भोग्य सामग्री भी तो पर है; अतः उसकी उपलब्धता भी सदा सहज नहीं है।

जब दांत थे, तब चने नहीं मिले और जब चने उपलब्ध हुए, तबतक दांत गायब हो चुके थे। मान लो दांत भी हैं और चना भी हैं, पर भूख ही न हो तो, खाने का भाव ही न हो तो फिर क्या हो ?

इसीप्रकार भोगसामग्री भी हो और भोगने में इन्द्रियाँ भी सबल हों; पर भोगने के भाव बिना भोगा जा सकना संभव नहीं है।

दूसरी बात इन्द्रियसुख में बाधाएँ भी कम नहीं हैं। इन्द्रियाँ सबल हों, भोग सामग्री भी हो और भोगने के भाव भी प्रबल हों; पर कोई पूज्य पुरुष आ जाये, मित्र आ जाये या फिर शत्रु ही क्यों न आ जाय; सब बाधाएँ ही हैं; क्योंकि उक्त परिस्थिति में उपभोग संभव नहीं है।

तीसरी बात यह है कि पुण्योदय से प्राप्त होनेवाले भोग कभी भी विघटन सकते हैं; क्योंकि पुण्योदय न जाने कब समाप्त हो जाय। पापोदय भी तो कभी भी आ सकता है। इसप्रकार ये भोग कभी भी विघटित हो जानेवाले होने से **विच्छिन्न** हैं।

चौथी बात यह है कि ये बंध के कारण हैं; क्योंकि भोगने के भाव पापभाव हैं और पापभाव पापबंध के ही कारण होते हैं। इसप्रकार इन्द्रियसुख अभी तो दुखरूप है ही, भविष्य में भी दुख देनेवाला ही है।

पाँचवीं बात यह है कि ये विषम हैं, अस्थिर हैं, घटते-बढ़ते रहते हैं।

इसप्रकार यह इन्द्रियसुख सर्वथा त्यागनेयोग्य है; **एकमात्र अतीन्द्रिय आनन्द ही प्राप्त करनेयोग्य है, उपादेय है।**

मूलतः बात यह है कि जबतक इन्द्रियसुख दुखरूप भासित नहीं होगा; तबतक पुण्य में उपादेयबुद्धि बनी ही रहेगी। अतः यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि इन्द्रिय सुख भी दुख ही है तथा पुण्य भी पाप के समान ही हेय है, त्यागने योग्य है।

पुराने जमाने में उपभोग की सभी वस्तुओं को छुपाकर रखा जाता था, उनका उपभोग भी एकान्त में होता था; पर आज सबकुछ सामने आ गया है। पहले खाने की सभी सामग्री रसोईघर में रहती थी; पर आज सभी कुछ भोजन की टेबल पर पारदर्शक बर्तनों में सजा रहता है; जो हमें खाने के लिए उत्तेजित करता है। पहले जो थाली में आ गया, खा लिया; पर आज अपने हाथ से उठा-उठाकर सबकुछ लिया जाता है। पुराने जमाने में महिलायें भी पर्दे में रहती थीं, पर आज तो सब कुछ बेपर्दा हो गया है। टी.वी. आदि सभी उत्तेजक सामग्री बेडरूम में आ गई है और सत्साहित्य वहाँ से यह कहकर हटा दिया गया है कि यहाँ इसकी अविनय होगी।

अरे भाई ! वैराग्यमय चित्र और वैराग्योत्पादक साहित्य घर में रखो, उसे पढ़ते-पढ़ते सोवोगे तो स्वप्न भी सात्विक आयेंगे।

ये उत्तेजक सामग्री न केवल हमारी वासनाओं को भड़काती हैं, उत्तेजित करती हैं; अपितु हमारी कुत्सित वृत्ति की प्रतीक भी हैं, परिणाम भी हैं। हमारी वृत्ति ही खोटी है; इसीकारण इन भड़काऊ चीजों का प्रवेश हमारे बेडरूम में हुआ है।

इसप्रकार ये भोग सामग्री हमारी उत्तेजित वासनाओं का परिणाम है और हमारी वासनाओं को भड़कानेवाली भी हैं; अतः इन्हें गुप्त रखना ही ठीक है। ये प्रदर्शन की वस्तुएँ नहीं हैं। **ये भोगायतन हैं; इनसे हमारा घर भी भोगायतन ही बनेगा।**

यदि हमें अपने घर को धर्मायतन बनाना है तो वैराग्यपोषक चित्र और सत्साहित्य घर में बसाना चाहिए। न केवल बसाना चाहिए, अपितु उसका अध्ययन भी नित्य करना चाहिए। स्वयं करना चाहिए और घरवालों को भी कराना चाहिए।

जिस घर में सत्साहित्य नहीं, वह घर नहीं, श्मशान है। यदि अपने घर को श्मशान नहीं बनाना है, मन्दिर बनाना है तो जिनवाणी को घर में बसाओ, उसका बहिष्कार मत करो, सत्कार करो, स्वाध्याय करो। ●

जो आत्मा का ध्यान करता है

(९१)

सुहअसुहवयणरणं रायादीभाववारणं किच्चा ।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु णियमं हवे णियमा ॥

(हरिगीत)

शुभ-अशुभ रचना वचन वा रागादिभाव निवारिके ।
जो करें आत्म ध्यान नर उनके नियम से नियम है ॥

शुभाशुभ वचन रचना और रागादिभावों का निवारण करके जो आत्मा अपने आत्मा को ध्याता है, उसे नियम से नियम (धर्म) होता है ।

तात्पर्य यह है कि शुभाशुभभाव का अभाव कर अपने आत्मा का ध्यान करना ही धर्म है, नियम है ।

यह गाथा नियमसार नामक शास्त्र के शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्त अधिकार की १२०वीं गाथा है । इसमें यह बताया गया है कि आत्मा का ध्यान करनेवाले के ही नियम (सुनिश्चितरूप) से नियम होता है ।

ग्रन्थ के आरम्भ में ही नियम के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए तीसरी गाथा में कहा गया था कि नियम से करने योग्य जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं, वे ही नियम हैं ।

उक्त गाथा इस कुन्दकुन्द शतक में भी अगली (९२वीं) गाथा के रूप में संकलित है ।

यहाँ इस गाथा में कहा जा रहा है कि शुभाशुभवचनरचना का और रागादिभावों का निवारण करके अपने भगवान आत्मा का ध्यान करना ही नियम है ।

उक्त दोनों बातों में कोई विशेष अन्तर नहीं है; क्योंकि निज भगवान आत्मा की आराधना का नाम ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है और

आत्मा का ध्यान भी तो वीतरागभावरूप है, चारित्ररूप है, चारित्रगुण की पर्याय है, स्वात्मा में ज्ञान की स्थिरतारूप ही है ।

यहाँ प्रायश्चित्ताधिकार होने से ध्यान को ही निश्चयप्रायश्चित्त बताया जा रहा है और नियम की चर्चा भी उक्त संदर्भ में ही है ।

अतः जिसप्रकार आत्मध्यान निश्चयप्रायश्चित्त है; उसीप्रकार निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप नियम भी निश्चयप्रायश्चित्त ही है ।

मुक्ति के मार्ग में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही नियम से करने योग्य कार्य हैं । इसलिए वे ही नियम हैं ।

ध्यान भी निश्चय रत्नत्रयवालों के ही होता है और ध्यान भी नियम है । इसप्रकार ध्यान, निश्चयरत्नत्रय एवं नियम लगभग एकार्थवाची ही है ।

इसलिए मन-वचन-काय की शुभाशुभ वृत्ति और प्रवृत्ति का निवारण करके एकमात्र आत्मा का ध्यान करना ही धर्म है, नियम है । ●

आत्मा का स्वभाव जैसा है वैसा न मानकर अन्यथा मानना, अन्यथा ही परिणमन करना चाहना ही अनन्त वक्रता है । जो जिसका कर्ता-धर्ता-हर्ता नहीं है, उसे उसका कर्ता-धर्ता-हर्ता मानना ही अनन्त कुटिलता है । रागादि आस्रवभाव दुःखरूप एवं दुःखों के कारण हैं, उन्हें सुखस्वरूप एवं सुख का कारण मानना; तद्रूप परिणमन कर सुख चाहना; संसार में रंचमात्र भी सुख नहीं है, फिर भी उसमें सुख मानना एवं तद्रूप परिणमन कर सुख चाहना ही वस्तुतः कुटिलता है, वक्रता है । इसीप्रकार वस्तु का स्वरूप जैसा है वैसा न मानकर, उसके विरुद्ध मानना एवं वैसा ही परिणमन करना चाहना विरूपता है ।

हृ धर्मकेदशलक्षण, पृष्ठ ५०-५१

नियम से करने योग्य कार्य ही नियम है

(९२)

णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं ।
विवरीयपरिहरत्थं भणित्तं खलु सारमिदि वयणं ॥

(हरिगीत)

सद्-ज्ञान-दर्शन-चरित ही है 'नियम' जानो नियम से ।
विपरीत का परिहार होता 'सार' इस शुभ वचन से ॥

नियम से करने योग्य जो कार्य हो, उसे नियम कहते हैं । आत्महित की दृष्टि से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही करने योग्य कार्य हैं; अतः वे ही नियम हैं ।

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र की निवृत्ति के लिए 'नियम' के साथ 'सार' शब्द जोड़ा गया है ।

अतः सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही नियमसार है ।

यह गाथा नियमसार नामक शास्त्र की तीसरी गाथा है । इसमें नियमसार शब्द का तात्पर्य समझाया गया है ।

नियम दो प्रकार का होता है ह

१. कारण नियम और २. कार्य नियम ।

त्रिकालस्वभावरत्नत्रय कारणनियम है और सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप प्रगट पर्याय कार्यनियम है ।

त्रिकालस्वभावरत्नत्रय को शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम भी कहते हैं । इसकारण शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम को कारणनियम भी कहते हैं ।

यह शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम उत्पादव्ययनिरपेक्ष एकरूप है, द्रव्यरूप है; अतः द्रव्यार्थिकनय का विषय है ।

यह स्वयं मोक्षमार्गरूप नहीं है, यह तो त्रिकाली ध्रुव है, इसके आश्रय से मोक्षमार्ग प्रगट होता है ।

शुद्धचेतनाज्ञानपरिणाम तो मात्र कारण ही है; क्योंकि उसके आश्रय से मोक्षमार्ग प्रगट होता है ।

इसीप्रकार मोक्ष केवल कार्य ही है; किन्तु रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग कारण भी है और कार्य भी है । मोक्षमार्ग मोक्ष का कारण है और शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम का कार्य है ।

कारणनियम भी दो प्रकार का है ह १. त्रिकाल एकरूप ध्रुवपरिणाम और २. वर्तमान ध्रुवपरिणाम ।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि यहाँ 'सार' शब्द विपरीतता के परिहार के लिए प्रयुक्त है ।

यदि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की बात करें तो इनके विपरीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिहार लिया जायेगा; किन्तु यदि निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निश्चय मोक्षमार्ग की बात करें तो उसके विपरीत व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप व्यवहार मोक्षमार्ग का परिहार अभीष्ट होगा ।

चूँकि यहाँ निश्चय मोक्षमार्ग की बात चल रही है; अतः यहाँ व्यवहार मोक्षमार्ग को ही विपरीत मानकर, उसी का परिहार अभीष्ट होना चाहिए ।

इसप्रकार विपरीत में मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणति भी आ गई और व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणति भी आ जाती है । दोनों परिणतियों का परिहार इस सार शब्द से हो जाता है ।

इसलिए नियमसार नामक पद का अर्थ मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र तथा व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यक्चारित्र से रहित निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय चारित्ररूप मोक्षमार्ग हुआ । अतः इस नियमसार नामक शास्त्र में मुख्यरूप से निश्चयरत्नत्रय का ही निरूपण किया गया है ।

मोक्ष का उपाय मार्ग है

(९३)

मग्गोमग्गफ़लंति यदुविहंजिणसासणेसमक्खवादां।
मग्गो मोक्खवउवाओ तस्स फ़लं होइ णिव्वाणं ॥

(हरिगीत)

जैन शासन में कहा है मार्ग एवं मार्गफल।

है मार्ग मोक्ष-उपाय एवं मोक्ष ही है मार्गफल ॥

जिनशासन में मार्ग और मार्गफल हू ऐसे दो प्रकार कहे गये हैं। उनमें मोक्ष के उपाय को मार्ग कहते हैं और उसका फल निर्वाण (मोक्ष) है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता मोक्ष का मार्ग है। तथा इनकी पूर्णता से जो अनन्तसुख, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन एवं अनन्तवीर्य तथा अव्याबाध आदि गुण प्रगट होते हैं; वही मोक्ष है।

यह गाथा नियमसार नामक शास्त्र की दूसरी गाथा है। इसमें मोक्ष और मोक्षमार्ग का स्वरूप बताया गया है।

नियम अर्थात् रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग और सार अर्थात् शुद्धता; शुद्ध रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग ही नियमसार है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों में ही निजपरमात्मतत्त्व का ही अवलम्बन है, किसी पर का अवलम्बन नहीं है। निजपरमात्मतत्त्व के अतिरिक्त किसी भी 'पर' का अवलम्बन शुद्धरत्नत्रय में नहीं होता।

और उस शुद्धरत्नत्रय का फल स्वात्मोपलब्धि (निज शुद्धात्मा की प्राप्ति) है। अपने आत्मा की पूर्ण मुक्तदशा प्रकट होना ही शुद्धात्मा की प्राप्ति है। मोक्षमार्ग तो निरपेक्ष अपने में है और उसका फल भी अपने में है। अपना आत्मा ही भगवान बन जाय हू यही मोक्षमार्ग का फल है।

इसप्रकार इस गाथा में मात्र यही कहा गया है कि शुद्धरत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है और मुक्ति की प्राप्ति उसका फल है। ●

वादविवाद उचित नहीं

(९४)

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ॥

(हरिगीत)

है जीव नाना कर्म नाना लब्धि नानाविध कही।

अतएव वर्जित वाद है निज-पर समय के साथ भी ॥

जीव नाना प्रकार के हैं, कर्म नाना प्रकार के हैं और लब्धियाँ भी नाना प्रकार की हैं। अतः स्वमत और परमतवालों के साथ वचनविवाद उचित नहीं है, निषेध योग्य है। किसी से वाद-विवाद करना आत्मार्थी का काम नहीं है।

यह गाथा नियमसार शास्त्र के निश्चय परमावश्यक अधिकार की १५६वीं गाथा है।

इसमें किसी के साथ वादविवाद करने का स्पष्ट निषेध किया है।

उक्त गाथा में तो मात्र यही कहा गया है कि जीव अनेक प्रकार के हैं, उनके कर्म (ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादि भावकर्म और देहादि नोकर्म अथवा कार्य) अनेक प्रकार के हैं और उनकी लब्धियाँ, उपलब्धियाँ भी अनेक प्रकार की हैं; अतः सभी की समझ, मान्यता, विचारधारा एक कैसे हो सकती है ? यही कारण है कि सभी जीवों के परिणामों में विभिन्नता देखी जाती है, मतभेद पाया जाता है; इसकारण सभी को एकमत करना संभव नहीं है, समझाना भी संभव नहीं है; क्योंकि बहुत कुछ सामनेवाले की योग्यता पर ही निर्भर होता है।

यदि तुझे समझाने का भाव आता है तो कोई बात नहीं; अपने विकल्प की पूर्ति कर ले; पर तेरे समझाने पर भी कोई न माने, स्वीकार न करे तो अधिक विकल्प करने से कोई लाभ नहीं।

समझाने के विकल्प से भी किसी से वाद-विवाद करना तो कदापि ठीक नहीं है। न तो अपने मतवाले के साथ और न अन्यमतवालों के साथ विवाद करना कदापि ठीक नहीं है।

टीकाकार मुनिराज ने नाना जीव का अर्थ करते हुए जीवों के मुक्त और संसारी, संसारियों के त्रस और स्थावरादि भेद गिना दिये अथवा भव्य-अभव्य की बात कर दी। उनका स्वरूप भी संक्षेप में समझा दिया। कर्म में ज्ञानावरणादि ८ मूल प्रकृतियों और १४८ उत्तर प्रकृतियों की चर्चा कर दी। लब्धियों के भी पाँच भेद गिना दिये।

मैं क्षमायाचनापूर्वक अत्यन्त विनम्रता के साथ कहना चाहता हूँ कि मुझे ऐसा लगता है कि यहाँ इन सब की आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि एक तो नियमसार का अध्येता इन सब जैनदर्शन संबंधी प्राथमिक बातों से भलीभाँति परिचित ही है; दूसरे यहाँ मुख्य वजन तो स्वसमय और परसमय के साथ वाद-विवाद नहीं करने की बात पर है।

समझने-समझाने के विकल्प में पड़ कर वाद-विवाद में उलझ जाना समझदारी का काम नहीं है, केवल मनुष्यभव के कीमती समय को व्यर्थ में बर्बाद करना ही है।

गृहस्थों को भी उक्त महत्त्वपूर्ण सलाह अत्यन्त उपयोगी है, परन्तु मुनियों के लिए तो अत्यन्त आवश्यक है, अनिवार्य है।

नाना जीव का आशय विभिन्न रुचिवाले जीवों से है। आचार्य अकलंकदेव ने भी राजवार्तिक में इसप्रकार के प्रसंग में ऐसा ही कहा है। वे लिखते हैं ह “विभिन्नरुचयः हि लोकाः ह्य लौकिकजन भिन्न-भिन्न रुचिवाले होते हैं।”

इसीप्रकार कर्मों के उदय से होनेवाले जीव के औदयिक भाव भी अनेक प्रकार के होते हैं तथा लब्धि अर्थात् पर्यायगत योग्यता भी प्रत्येक जीव की प्रतिसमय भिन्न-भिन्न होती है। ऐसी स्थिति में सबका एकमत होना असंभव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है।

इसप्रकार यहाँ लब्धियों के माध्यम से क्षणिक उपादान के रूप में पर्यायगत योग्यता, अंतरंग निमित्त के रूप में कर्मोदय और जीवों के रूप में त्रिकाली उपादान को ले लिया गया है।

कहने का आशय यह है कि समझ में आने के लिए उसका द्रव्य-स्वभाव, पर्यायस्वभाव और अंतरंग निमित्त जिम्मेवार हैं; यदि उसकी समझ में आ जावे तो भी तू मात्र बहिरंग निमित्त होगा। इसलिए समझाने के विकल्प से वाद-विवाद करना समझदारी नहीं है।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज उक्त भाव का पोषक एक छन्द लिखते हैं, जिसमें गाथा की मूल बात को पूरी तरह दुहरा दिया है।

उक्त छन्द मूलतः इसप्रकार है ह

(शिखरिणी)

विकल्पो जीवानां भवति बहुधा संसृतिक्त्रः
तथा कर्मनिक्रविधमपि सदा जन्मजनकम्।
असौ लब्धिर्नाना विमलजिनमार्गे हि विदिता
ततः कर्तव्यं नो स्वपरसमयैर्वादवचनम्॥२६७॥

(हरिगीत)

संसारकारक भेद जीवों के अनेक प्रकार हैं।
भव जन्मदाता कर्म भी जग में अनेक प्रकार हैं॥
लब्धियाँ भी हैं विविध इस विमल जिनमार्गविषे।
स्वपरमत के साथ में न विवाद करना चाहिए॥२६७॥

जीवों के संसार के कारणभूत अनेक प्रकार के भेद हैं, जन्मोत्पादक कर्म भी अनेक प्रकार के हैं और निर्मल जैनमार्ग में लब्धियाँ भी अनेक प्रकार की प्रसिद्ध हैं। इसलिए स्वसमय और परसमय के साथ विवाद करना कर्तव्य नहीं है।

विकल्प शब्द का अर्थ भेद भी होता है; इसकारण गाथा के अनुसार यहाँ विकल्प का अर्थ भेद मानकर ही अर्थ किया गया है। तथापि मन में उठनेवाले अनेक प्रकार के भावों को भी विकल्प कहते हैं।

यदि इसके अनुसार अर्थ किया जाये तो ऐसा भी कर सकते हैं कि जीवों के संसार-वर्धक अनेक प्रकार के विकल्प होते हैं, मान्यताएँ होती हैं। इसीप्रकार कर्म का अर्थ कार्य भी होता है।

तात्पर्य यह है कि लोगों के कार्य भी अनेक प्रकार के हैं। पर्यायगत योग्यता को लब्धि कहते हैं। 'लब्धियाँ अनेक प्रकार की हैं' ह्र का अर्थ यह भी हो सकता है कि जीवों की पर्यायगत योग्यतायें भी अनेक प्रकार की हैं, विभिन्न प्रकार की हैं।

इसप्रकार इस छन्द का एक सहज अर्थ यह भी किया जा सकता है कि जीवों के मन में अनेक प्रकार की विकल्प तरंगे उठती हैं, उनके अनेक प्रकार के कार्य देखे जाते हैं और उनकी पर्यायगत योग्यताएँ भी अलग-अलग होती हैं। इसकारण सब का एकमत हो पाना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। अतः आत्मार्थियों का यह परम कर्तव्य है कि वे उक्त संदर्भ में किसी से भी वाद-विवाद में न उलझें।

ध्यान रहे, समझना-समझाना अलग बात है और वाद-विवाद करना अलग। समझने-समझाने का भाव ज्ञानीजनों को भी आ सकता है, आता भी है, वे समझाते भी हैं; पर वे किसी से वाद-विवाद में नहीं उलझते।

वाद-विवाद में जीत-हार की भावना रहती है; जबकि समझने में जिज्ञासा और समझाने में करुणाभाव रहता है। यही कारण है कि साधर्मी भाई-बहिनों में तत्त्वचर्चा तो होती है, पर वाद-विवाद नहीं।

यहाँ वाद-विवाद का निषेध है; चर्चा-वार्ता का नहीं, शंका-समाधान का नहीं, पठन-पाठन का भी नहीं; क्योंकि ये तो स्वाध्याय तप के भेद हैं।

आचार्यदेव यह उपदेश देकर आपको व्यर्थ के वाद-विवाद से बचाना चाहते हैं। तत्त्वचर्चा के माध्यम से स्वाध्याय करने को मना नहीं करते। स्वाध्याय करने की तो वे बारम्बार प्रेरणा देते हैं; क्योंकि स्वाध्याय तो परमतप है। ●

ज्ञाननिधि को गुप्तरूप से भोगो

(९५)

लद्धूणं णिहि एक्को तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते ।
तह णाणी णाणणिहिं भुंजेइ चइत्तु परततिं ॥

(हरिगीत)

ज्यों निधि पाकर निज वतन में गुप्त रह जन भोगते।

त्यों ज्ञानिजन भी ज्ञाननिधि परसंग तज के भोगते ॥

जिसप्रकार कोई व्यक्ति निधि को पाकर अपने वतन में गुप्तरूप से रहकर उसके फल को भोगता है, उसीप्रकार ज्ञानी भी जगतजनों से दूर रहकर ह्र गुप्त रहकर ज्ञाननिधि को भोगते हैं।

यह गाथा नियमसार शास्त्र के निश्चय परमावश्यक अधिकार की १५७वीं गाथा है। इसमें यह बताया गया है कि यदि ज्ञाननिधि प्राप्त हो गई है तो उसे गुप्त रहकर भोगो, जगत के जंजाल में मत उलझो।

यह एक सीधी, सहज, सरल गाथा है, इसमें इतना ही कहा गया है कि जिसप्रकार लोक में यदि किसी को कोई गुप्त खजाना मिल जावे तो वह उसे अत्यन्त गुप्त रहकर भोगता है; किसी को भी नहीं बताता। उसीप्रकार ज्ञानीजन भी रत्नत्रयरूप निधि पाकर उसे गुप्त रहकर भोगते हैं, उसका प्रदर्शन नहीं करते।

मूल गाथा में तो परसंग तजकर ज्ञाननिधि को भोगने की बात अत्यन्त स्पष्टरूप से कही है; पर न जाने क्यों टीकाकार परसंग को छोड़ने की बात कहकर ही बात समाप्त कर देते हैं; ज्ञाननिधि को भोगने की बात ही नहीं करते।

'हम आत्मज्ञानी हैं' ह्र इस बात का ढिढ़ोरा पीटनेवालों को इस प्रकरण पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि यदि हमें आत्मानुभूतिरूप निधि की प्राप्ति हो गई है तो उसे गुप्त रहकर क्यों नहीं भोगते, उसका ढिढ़ोरा क्यों पीटते हैं, क्यों पीटना चाहते हैं ?

उस समय भी ऐसे लोग रहे होंगे, जो स्वयं के ज्ञानीपने का ढिंढोरा पीटते होंगे। उन्हें संबोधने के विकल्प से आचार्यदेव को यह सब लिखना पड़ा।

आज इसप्रकार के उपदेश की अत्यन्त आवश्यकता है; क्योंकि आज तो गली-गली में इसप्रकार के लोग बैठे हैं। थोड़ा-बहुत अध्ययन किया, दो वाक्य बोलना सीखे, बस इतने से ही स्वयं महन्त बन के बैठ जाते हैं और उपदेश देने लगते हैं।

स्वयं को अनुभवी और जगत को अज्ञानी घोषित करनेवाले वे लोग स्वयं तो संसार-सागर में डूबते ही हैं और अनुकरण-अनुसरण करनेवालों को भी डुबोते हैं।

उन्हें लक्ष्य करके ही आचार्यदेव कहते हैं कि यदि तुझे आत्मानुभूति रूप निधि प्राप्त हो गई है तो एकत्रन्त में जाकर उसका आनन्द क्यों नहीं लेता ?

लोक में तो ऐसी गलती कोई नहीं करता कि निधि (खजाना) प्राप्त होने पर दुनियाँ में प्रचार करता फिरे कि मुझे खजाना मिल गया है। वहाँ तो वह बहुत अच्छी तरह समझता है कि चारों ओर लुटेरे ही लुटेरे हैं।

ज्ञाननिधि के साथ ऐसा क्यों नहीं होता ?

ज्ञाननिधि के साथ भी ऐसा ही होता है। असली ज्ञाननिधि वाले तो सब अपने में मगन होकर उसका आनन्द लेते हैं; किन्तु वे लोग जो वस्तुतः तो ज्ञानी हैं नहीं और ज्ञानीपने का प्रदर्शन करते हैं; वे ऐसा करते हैं। असली ज्ञानी तो बहुत धीर-गंभीर होते हैं।

आचार्यदेव द्वारा उक्त सम्पूर्ण कथन उन लोगों के लक्ष्य से ही लिखा गया है; जो लोग आत्मज्ञानशून्य होने पर भी जगत के सामने ज्ञानी के रूप में प्रस्तुत होना चाहते हैं या प्रस्तुत हो रहे हैं।

●

जिनमार्ग में अभक्ति मत करना

(९६)

ईसाभावेण पुणो केई णिंदति सुन्दरं मग्गं ।
तेसिं वयणं सोच्चाऽभत्तिं मा कुणह जिणमग्गे ॥

(हरिगीत)

यदि कोई ईर्ष्याभाव से निन्दा करे जिनमार्ग की।

छोड़े न भवती वचन सुन इस वीतरागी मार्ग की ॥

यदि कोई ईर्ष्याभाव से इस सुन्दर मार्ग की निन्दा करें तो उनके वचनों को सुनकर हे भव्यों ! इस सुन्दर जिनमार्ग में अभक्ति मत करना।

इस सच्चे मार्ग में अभक्ति ह्व अश्रद्धा करने का फल अनंत संसार है; अतः किसी के कहने मात्र से इस सुन्दर मार्ग को त्यागना बुद्धिमानी नहीं है।

यह गाथा नियमसार शास्त्र के शुद्धोपयोग अधिकार की १८६वीं गाथा है। इसमें यह सदुपदेश दिया गया है कि यह जिनमार्ग परमवीतरागी मार्ग है, सहजसुख का सहज मार्ग है, परम उपादेय मार्ग है। यदि कोई ईर्ष्यालु व्यक्ति ईर्ष्याभाव से इस सुन्दर मार्ग की निन्दा करे तो उसके दुष्ट वचन सुनकर इस मार्ग की अभक्ति नहीं करना, इसे छोड़ मत देना।

इस गाथा का भाव स्पष्ट करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव लिखते हैं ह

“यहाँ भव्यजीवों को शिक्षा दी है। यदि कोई मंदबुद्धि त्रिकाल निरावरण, नित्यानन्द लक्षणवाले, निर्विकल्प, निजकारणपरमात्मतत्त्व के सम्यक् ज्ञान-श्रद्धान-अनुष्ठानरूप शुद्धरत्नत्रय से प्रतिपक्षी मिथ्यात्व कर्मोदय की सामर्थ्य से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र परायण वर्तते हुए ईर्ष्याभाव से/मत्सरयुक्त परिणाम से; पापक्रिया से निवृत्ति जिसका लक्षण है ह्व ऐसे भेदोपचार रत्नत्रयात्मक तथा अभेदोपचार रत्नत्रयात्मक

सर्वज्ञवीतरागदेव के इस सुन्दर मार्ग की निन्दा करते हैं तो उन स्वरूप विकल लोगों के कुत्सित हेतु और खोटे उदाहरणों से युक्त कुतर्क वचनों को सुनकर जिनेश्वर प्रणीत शुद्धरत्नत्रय मार्ग के प्रति हे भव्यजीवो! अभक्ति नहीं करना, परन्तु भक्ति करना ही कर्तव्य है।”

इस जगत में ऐसे अज्ञानियों की कमी नहीं है कि जो ईर्ष्याभाव के कारण एकदम सच्चे रत्नत्रयरूप धर्म की निन्दा करते देखे जाते हैं; उनके भड़कावे में आकर, उनके मुख से इस पवित्रमार्ग की निन्दा सुनकर बिना विचार किये इस पवित्र मार्ग से च्युत नहीं हो जाना; अन्यथा तुम्हें भव-भव में भटक कर अनंत दुःख उठाने पड़ेंगे।

सभी आत्मार्थी भाई-बहिनों को आचार्यदेव के उक्त करुणा से सने वचनों पर ध्यान देना चाहिए, उनकी शिक्षा का पूरी तरह से पालन करना चाहिए।

यह वस्तुस्वरूप की निरूपक गाथा न होकर सदुपदेश की गाथा है।

इसमें अत्यन्त करुणाभाव से सचेत किया गया है कि वीतरागी-सर्वज्ञदेव द्वारा निरूपित वीतरागी मार्ग की निन्दा करनेवाले भी इस जगत में लोग मिल जाते हैं। उनके द्वारा अकारण ही ईर्ष्याभाव से इस परम पवित्र मार्ग की निन्दा की जाती है।

हे भव्यजीवो ! उनके वचनों से भ्रमित होकर इस मार्ग के प्रति अभक्ति नहीं करना, इसे किसी कीमत पर नहीं छोड़ना।

यह करुणासागर आचार्यदेव का उपदेश है, आदेश है, वह सबकुछ है, जो आचार्यदेव द्वारा हमें प्राप्त हो सकता है।

इसे पूरी भक्ति से स्वीकार करना और जीवन में अपनाना। एकमात्र यही सार है और सब असार है।

आत्मानुभवी आत्माएँ भी जगत के क्रिया-कलापों में व्यस्त रहते दिखाई देने पर भी आत्म-विस्मृत नहीं होतीं। उनकी आत्म-जागृति लब्धिरूप से सदा बनी रहती है।
हमैं कौन हूँ, पृष्ठ-१८

निश्चय-व्यवहार भक्ति

(९७-९८)

मोक्षवपहे अप्पाणं ठविऊण य कुण्णदि णिव्वुदी भत्ती ।
तेण दु जीवो पावइ असहायगुणं णियप्पाणं ॥
मोक्षवंगयपुरिसाणं गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि ।
जो कुण्णदि परमभत्तिं ववहारणयेण परिकहियं ॥

(हरिगीत)

जो थाप निज को मुक्तिपथ भक्ती निवृत्ती की करें ।
वे जीव निज असहाय गुण सम्पन्न आत्म को वरें ॥
मुक्तिगत नरश्रेष्ठ की भक्ती करें गुणभेद से ।
वह परमभक्ती कही है जिनसूत्र में व्यवहार से ॥

मोक्षपथ में अपने आत्मा को अच्छी तरह स्थापित करके जो व्यक्ति निवृत्ति-भक्ति करता है, निर्वाण-भक्ति करता है, निज भगवान आत्मा की भक्ति करता है, निज भगवान आत्मा में ही अपनापन स्थापित करता है, उसे ही अपना जानता-मानता है, उसका ही ध्यान करता है; वह निश्चय से असहाय गुणवाले निजात्मा को प्राप्त करता है।

असहाय शब्द के दो अर्थ होते हैं। एक तो जिसे पर की सहायता की आवश्यकता नहीं है, वह पूर्ण समर्थ पुरुष असहाय है। दूसरा जिसका कोई सहारा नहीं है, वह दीन-हीन व्यक्ति असहाय है।

यहाँ पहला अर्थ ही अभीष्ट है।

मोक्ष में गये हुए पुरुषों के गुणभेद जानकर उनकी परम भक्ति करना व्यवहारनय से भक्ति कहलाती है। मुक्ति को प्राप्त महापुरुषों का ह भगवन्तों का गुणानुवाद ही व्यवहार भक्ति है।

ये गाथार्ये नियमसार शास्त्र के परमभक्ति अधिकार की १३६वीं और १३५वीं गाथार्ये हैं। इन गाथाओं में सिद्धभक्ति की निश्चय-व्यवहार स्तुति का स्वरूप समझाया गया है।

गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“यह व्यवहारनयप्रधान सिद्धभक्ति के स्वरूप का कथन है।

जो पुराणपुरुष सम्पूर्ण कर्मों के क्षय के उपायभूत कारणपरमात्मा की अभेद-अनुपचार रत्नत्रय परिणति से भलीप्रकार आराधना करके सिद्ध हुए हैं; उनके केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों के भेद को जानकर निर्वाण की परम्परा की हेतुभूत परमभक्ति जो आसन्नभव्य जीव करता है; उस मुमुक्षु को व्यवहारनय से निर्वाणभक्ति है।”

निश्चयभक्ति के निर्विकल्प स्वरूप को भलीभांति समझनेवाले ज्ञानी श्रावक या छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज जब शुभोपयोग के काल में सिद्ध भगवान की भक्ति-स्तुति उनके केवलज्ञानादि गुणों के आधार पर करते हैं तो उक्त विकल्पात्मक भक्ति-स्तुति को व्यवहारभक्ति कहते हैं।

सिद्ध भगवान के गुणों को भलीभांति जानकर उनके गुणानुवाद करने को व्यवहारभक्ति कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि सिद्ध भगवान का स्वरूप भलीभांति जानकर मन में उनके गुणों का चिन्तन करना, वचन से उनका गुणगान करना और काया से नमस्कारादि करना व्यवहारभक्ति है।

निरंजन निज परमात्मा के आनन्दरूपी अमृत को पीने के लिए अभिमुख यह जीव; भेदकल्पना निरपेक्ष निरुपचार रत्नत्रयात्मक निर्विकारी मोक्षमार्ग में, अपने आत्मा को, भले प्रकार स्थापित करके; निर्वृत्ति की अर्थात् मुक्तिरूपी स्त्री के चरण कमलों की परम भक्ति करता है; उस कारण से वह भव्य जीव भक्ति गुण द्वारा, निरावरण सहज ज्ञान गुणवाला होने से, असहाय गुणात्मक निज आत्मा को प्राप्त करता है।

भक्ति दो प्रकार की होती है ह

एक निश्चयभक्ति और दूसरी व्यवहारभक्ति।

चैतन्यस्वभाव के निर्विकल्प श्रद्धान-ज्ञानपूर्वक उसी में स्थिर होना, परमात्मा की निश्चयभक्ति है तथा ऐसी निश्चयभक्तिपूर्वक बीच-बीच में जो शुभराग आता है, वह व्यवहारभक्ति है।

अपने शुद्ध आत्मा का वीतरागी श्रद्धान-ज्ञान ही निश्चयभक्ति है और देव-शास्त्र-गुरु के प्रति बहुमान का भाव व्यवहारभक्ति है।

यहाँ पर्याय के अभिमुख होने के लिए नहीं कहा है; परन्तु पर्यायबुद्धि छोड़कर, पर्याय को त्रिकाली तत्त्व के अभिमुख करने के लिए कहा है।

इस गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि मोक्षमार्ग में आत्मा को स्थापित करना अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य को धारण करना ही निश्चयभक्ति है, निर्वृत्तिभक्ति है, निर्वाणभक्ति है।

इसी निश्चय निर्वाणभक्ति-सिद्धभक्ति से निज भगवान आत्मा की प्राप्ति होती है। ●

समवशरण में भी तो बाग-बगीचे हैं, नृत्यशालाएँ-नाट्य-शालाएँ हैं, उनका दर्शन सम्यग्दर्शन का निमित्त नहीं बनता है; अपितु दिव्यध्वनि में आनेवाला जो मूल तत्त्वोपदेश है, वही सम्यग्दर्शन का देशनालब्धिरूप निमित्त है।

रंगारंग के कार्यक्रम में तो राग-रंग में ही निमित्त बनते हैं, वीतरागतारूप धर्म के निमित्त तो वीतरागता के पोषक कार्यक्रम ही हो सकते हैं।

अतः सम्यग्दर्शन के निमित्तभूत इन महोत्सवों में इस बात का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए कि इनमें अधिकतम कार्यक्रम वीतरागता के पोषक ही हों। तदर्थ शुद्धात्मा के स्वरूप के प्रतिपादक प्रवचनों का समायोजन अधिक से अधिक किया जाना चाहिए।

अन्य कार्यक्रमों में भी वीतरागता की पोषक चर्चाओं का समायोजन सर्वाधिक होना चाहिए।

हृ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ-७२-७३

जो जाणदि अरहंतं

(९९-१००)

जो जाणदि अरहंतं द्रव्यगुणतपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥
सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा ।
किच्चा तथोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥

(हरिगीत)

द्रव्य गुण पर्याय से जो जानते अरहंत को ।
वे जानते निज आत्मा दृग्मोह उनका नाश हो ॥
सर्व ही अरहंत ने विधि नष्ट कीने जिस विधि ।
सबको बताई वही विधि हो नमन उनको सब विधि ॥

जो अरहंत भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से एवं पर्यायरूप से जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह नाश को प्राप्त होता है ।

सभी अरहंत भगवान इसी विधि से कर्मों का क्षय करके मोक्ष को प्राप्त हुए हैं और सभी ने इसीप्रकार मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है, उन सभी अरहंतों को मेरा नमस्कार हो ।

तात्पर्य यह है कि मोह के नाश का उपाय अपने आत्मा को जानना-पहिचानना है और अपना आत्मा अरहंत भगवान के आत्मा के समान है; अतः द्रव्य-गुण-पर्याय से अरहंत भगवान का स्वरूप जानना मोह के नाश का उपाय है ।

ये गाथार्ये प्रवचनसार ग्रन्थराज की ८०वीं एवं ८२वीं गाथार्ये हैं । इनमें मोह के नाश की विधि बताई है । साथ में यह भी कहा है कि सभी अरहंत इसी विधि से मोक्ष गये हैं ।

आचार्य अमृतचन्द्र इन गाथाओं के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“जो अरहंत भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है; वह वस्तुतः अपने आत्मा को जानता है; क्योंकि दोनों में निश्चय से अन्तर नहीं है ।

अरहंत का स्वरूप अन्तिम ताव को प्राप्त होनेवाले सोने के स्वरूप की भाँति, सर्वप्रकार से स्पष्ट है; इसलिए उसका ज्ञान होने पर सर्व आत्मा का ज्ञान होता है ।

अन्वय द्रव्य है, अन्वय के विशेषण गुण हैं और अन्वय के व्यतिरेक (भेद) पर्यायें हैं । सर्वतः विशुद्ध भगवान अरहंत में (अरहंत के स्वरूप का ज्ञान होने पर) जीव तीनों प्रकार से युक्त (द्रव्य-गुण-पर्यायमय) अपने आत्मा को अपने मन से जान लेता है ।

जैसे ‘यह चेतन है’ इसप्रकार का अन्वय द्रव्य है, अन्वय के आश्रित रहनेवाला ‘चैतन्य’ विशेषण गुण है और एक समयमात्र की मर्यादावाला कालपरिमाण होने से परस्पर अप्रवृत्त अन्वय के व्यतिरेक वे पर्यायें हैं; जो चिद्विवर्तन की ग्रन्थियाँ (गाठें) हैं ।

इसप्रकार त्रैकालिक आत्मा को भी एक काल में जान लेनेवाला यह जीव; जिसप्रकार मोतियों को झूलते हुए हार के अन्तर्गत माना जाता है; उसीप्रकार चिद्विवर्तों का चेतन में ही संक्षेपण करके तथा विशेषण-विशेष्यता की वासना का अन्तर्धान होने से जिसप्रकार सफेदी को हार में अन्तर्हित किया जाता है; उसीप्रकार चैतन्य को चेतन में ही अन्तर्हित करके जिसप्रकार मात्र हार को जाना जाता है; उसीप्रकार केवल आत्मा को जानने पर, उसके उत्तरोत्तर क्षण में कर्ता-कर्म-क्रिया का विभाग क्षय को प्राप्त होता जाता है; इसलिए निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को प्राप्त होता है ।

इसप्रकार मणि की भाँति जिसका निर्मल प्रकाश अकम्परूप से प्रवर्तमान है वह ऐसे उस चिन्मात्र भाव को प्राप्त जीव में मोहान्धकार निराश्रयता के कारण अवश्य ही प्रलय को प्राप्त होता है ।

यदि ऐसा है तो मैंने मोह की सेना को जीतने का उपाय प्राप्त कर लिया है।

अतीतकाल में क्रमशः हुए समस्त तीर्थंकर भगवान प्रकारान्तर का असंभव होने से जिसमें द्वैत संभव नहीं है; ऐसे इसी एक प्रकार से कर्माशों का क्षय करके स्वयं अनुभव करके परमात्मता के कारण भविष्यकाल में अथवा इस वर्तमान काल में अन्य मुमुक्षुओं को भी इसीप्रकार उपदेश देकर मोक्ष को प्राप्त हुए हैं; इसलिए निर्वाण का अन्य कोई मार्ग नहीं है वह ऐसा निश्चित होता है अथवा अधिक प्रलाप से बस होओ ! मेरी मति व्यवस्थित हो गई है। भगवन्तों को नमस्कार हो।”

ये गाथायें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, इनकी यह तत्त्वप्रदीपिका टीका भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि इनमें मोह के नाश का उपाय बताया गया है।

मोह दो प्रकार का होता है ह १. दर्शनमोह और २. चारित्रमोह।

दर्शनमोह में मूलतः मिथ्यात्व आता है और चारित्रमोह में राग-द्वेष अर्थात् २५ कषायें आती हैं।

यहाँ पहली गाथा में मुख्यतः दर्शनमोह अर्थात् मिथ्यात्व के नाश की बात है। इस गाथा में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जो आत्मा को जानता है, उसका मोह (मिथ्यात्व) नाश को प्राप्त हो जाता है।

इसप्रकार यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि मिथ्यात्व के अभाव के लिए, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए निज भगवान आत्मा को जानना अत्यन्त आवश्यक है।

प्रश्न ह गाथा में अरहंत भगवान को जानने की बात है और आप आत्मा को जानने की बात कह रहे हैं ?

उत्तर ह मोह के नाश के लिए तो आत्मा को ही जानना आवश्यक

है; किन्तु आत्मा को जानने के लिए अरहंत भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानना आवश्यक है। इसप्रकार आत्मा और परमात्मा ह दोनों को ही जानना आवश्यक है।

एक बात और भी विशेष ध्यान देने योग्य है कि टीका में हेतु के रूप में कहा गया है कि आत्मा (अपना आत्मा) और परमात्मा (अरहंत-सिद्ध) में कोई अन्तर नहीं है। जब अन्तर ही नहीं है तो फिर दोनों का जानना भी एक का ही जानना हुआ न ?

वस्तुतः बात यह है कि अरहंत भगवान की पर्याय वीतरागता और सर्वज्ञता से सम्पन्न है। उसे जानने का तात्पर्य यह हुआ कि आत्मा को जानने के लिए वीतरागता और सर्वज्ञता का स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है।

आत्मा और परमात्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय में द्रव्य और गुण की समानता तो निर्विवाद ही है; किन्तु पर्याय में जो अन्तर दिखाई देता है, वह वर्तमान पर्याय का है; आत्मा और परमात्मा ह दोनों का त्रिकाली पर्यायस्वभाव तो समान ही है। तात्पर्य यह है कि हम और आप सभी त्रिकाल सर्वज्ञस्वभावी ही हैं।

सर्वज्ञता का स्वरूप समझे बिना देशनालब्धि संभव नहीं है और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए देशनालब्धि अनिवार्य है।

अरहंत भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानने की शर्त में यह संकेत भी है कि बाह्य अतिशयों से उनकी पहिचान करनेवालों को आत्मा का ज्ञान नहीं होता।

इसीप्रकार पूजा-पाठ, व्रत-उपवास, तीर्थयात्रा आदि क्रियाकाण्ड से भी न तो आत्मा का जानना होता है और न मोह का नाश ही होता है।

प्रश्न ह मोह के नाश के लिए आत्मा के समान ही परमात्मा को जानना है कि दोनों के जानने में कुछ अन्तर है ?

उत्तर ह अन्तर है; क्योंकि परमात्मा को तो मात्र जानना ही

है, जानते ही नहीं रहना है, उन्हीं में लीन नहीं हो जाना है; किन्तु आत्मा को जानकर उसे जानते ही रहना है, उसी में जम जाना है, रम जाना है।

परमात्मा का जानना तो एक सीढ़ी मात्र है, गन्तव्य नहीं; पर आत्मा को मात्र जानना ही नहीं है, निजरूप जानना है, उसी में अपनापन स्थापित करना है, उसी में समा जाना है।

परमात्मा के ध्यान से तो पुण्य का बंध होता है; पर आत्मा के ध्यान से कर्म कटते हैं; मिथ्यात्व का नाश होता है।

मूलतः तो आत्मा को ही जानना है और परमात्मा को आत्मा को जानने के लिए जानना है।

आत्मा निजरूप है और वह निजरूप से ही जाना जाता है तथा परमात्मा पररूप है और पररूप से ही जाना जाता है।

इसप्रकार इन दोनों के जानने में बहुत बड़ा अंतर है।

प्रश्न हू कोरे जानने से काम हो जायेगा, करना कुछ भी नहीं है। यदि कुछ भी नहीं करना है तो काम होगा कैसे ?

उत्तर हू अरे भाई ! जानना भी तो एक काम है, और आत्मा का तो एकमात्र काम जानना ही है; क्योंकि यह आत्मा पर में तो कुछ कर ही नहीं सकता; अपने स्वपरप्रकाशक स्वभाव के कारण यह आत्मा पर को तो मात्र जान ही सकता है।

जानना एक काम नहीं, अपितु आत्मा का काम तो एकमात्र जानना ही है।

लोक में भी करने की अपेक्षा जानने को बड़ा काम माना जाता है। मजदूर काम करता है तो उसे मजदूरी में प्रतिदिन २०० रुपये मिलते हैं; पर अनेक मजदूरों को देखने-जाननेवाले ओवरसियर को प्रतिदिन ५०० रुपये मिलते हैं और मजदूरों को देखनेवालों को देखने-जाननेवाले ठेकेदार या मालिक की आय अनलिमिटेड होती है, अनन्त होती है।

इसीप्रकार जगत को देखने-जाननेवालों की अपेक्षा देखने-जाननेवाले आत्मा को देखने-जाननेवाला आत्मा अधिक महान है; क्योंकि ज्ञायक स्वभावी आत्मा को जाननेवाले ही अनन्त सुख की प्राप्ति करते हैं।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि यहाँ आत्मा और परमात्मा हू दोनों को जानने की बात कहकर यह भी कह दिया है कि आत्मा स्व और पर दोनों को जान लेता है; क्योंकि आत्मा स्व है और परमात्मा पर है।

इसतरह यह भी प्रतिफलित होता है कि मिथ्यात्व के नाश के लिए स्व (आत्मा) और पर (परमात्मा) दोनों को जानना अनिवार्य है।

पर के जानने को निरर्थक बतानेवाले लोगों को उक्त तथ्य पर भी ध्यान देना चाहिए।

मिथ्यात्व के नाश का आशय मिथ्यात्व नामक कर्म के नाश से नहीं; क्योंकि वह तो परद्रव्य है और परद्रव्य की क्रिया का कर्ता-धर्ता भगवान आत्मा है ही नहीं।

यहाँ तो परपदार्थों और रागादि विकारों में एकत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि और भोक्तृत्वबुद्धिरूप मिथ्यात्व भाव के नाश की बात है। हाँ, यह बात अवश्य है कि इनके अभाव होने पर मिथ्यात्व नामक कर्म के भी यथायोग्य उपशमादि हो जाते हैं।

अरहंत परमात्मा हमारे किस काम के हैं, हमें उनका क्या करना है? इसके उत्तर में यदि यह कहें कि उनके दर्शन करना है, पूजा करनी है, प्रतिष्ठा करनी है, मंदिर बनवाना है।

अरे भाई ! यह कुछ भी नहीं करना है, उन्हें मात्र जानना है, जानने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं करना है; क्योंकि यहाँ तो यही लिखा है कि जो अरहंत भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानते हैं; वे अपने आत्मा को जानते हैं और उनका मोह नाश को प्राप्त होता है।

मोह के नाश के लिए, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति के लिए परमात्मा (अरहंत) को मात्र जानना है; जानने के अलावा कुछ नहीं करना है; क्योंकि वे तो हमारे मात्र ज्ञेय हैं और कुछ नहीं।

ध्यान रहे, यहाँ यह नहीं लिखा है कि उन्हें जानना भी नहीं है; क्योंकि वे पर हैं।

यहाँ तो उन्हें जानने की बात डंके की चोट पर लिखी है और उन्हें जानने का फल आत्मा को जानना बताया है। आत्मा के जानने पर मोह का नाश होता है; इसप्रकार प्रकारान्तर से अरहंत के जानने को मोह के नाश का उपाय बताया गया है।

आत्मा का कार्य मात्र जानना है, स्व-पर को जानना है; इसलिए मात्र जानो, जानो, जानो और जानो; पर को जानो, स्व को जानो, स्व-पर को जानो; पर से भिन्न स्व को जानो, जानो और जानते रहो।

अपने को अपना मानकर जानते रहो, लगातार जानते रहो और कुछ भी नहीं करना है।

इसी से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र सभी हो जावेंगे और न केवल दर्शनमोह अपितु चारित्रमोह का भी नाश हो जायेगा। तुम स्वयं पर्याय में भी भगवान बन जावोगे।

स्वभाव से तो भगवान ही; पर्याय में बनना है सो इसीप्रकार स्व को जानते रहने से पर्याय में भी भगवान बन जावोगे, सर्वज्ञ-वीतरागी हो जावोगे।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि मोह के नाश का उपाय एकमात्र निजभगवान आत्मा को जानना है और अधिक आगे जायें तो इसमें द्रव्य-गुण-पर्याय से परमात्मा के स्वरूप को जानना भी शामिल कर सकते हैं। इसके आगे बढ़ना तो उपचार में उपचार होगा।

प्रश्न है आत्मा और परमात्मा (अरहंत) की पर्याय में कोई अन्तर नहीं है है यह बात गले नहीं उतरती; क्योंकि कहाँ हम रागी-द्वेषी अल्पज्ञ और कहाँ वे वीतरागी सर्वज्ञ ?

उत्तर है हमारी और उनकी पर्याय में जो अन्तर है, वह तो आपको स्पष्ट दिखाई दे ही रहा है और उक्त अन्तर को समाप्त करने के लिए ही अपना यह सब पुरुषार्थ है।

अब रही बात अन्तर नहीं होने की सो यहाँ जो द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप बताया है; उसमें यह बात स्पष्ट ही है।

अन्वय सो द्रव्य, अन्वय का विशेषण गुण और अन्वय का व्यतिरेक पर्याय है है यही कहा है यहाँ।

है, है और है; निरन्तर होते-रहने का नाम अन्वय है। सत्तास्वरूप वस्तु निरन्तर ही विद्यमान रहती है; भगवान आत्मा भी सत्तास्वरूप वस्तु है और वह भी अन्वयरूप से निरन्तर रहता है; इसीकारण द्रव्य है।

अन्वरूप से विद्यमान वस्तु की अन्वरूप से रहनेवाली विशेषताएँ ही गुण हैं। भगवान आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि गुण आत्मा में निरन्तर ही रहते हैं।

विगत पर्याय में वर्तमान पर्याय का नहीं होना ही अन्वय का व्यतिरेक है। द्रव्य और गुणों के समान अन्वरूपों के व्यतिरेक भी अरहंत के समान अपने आत्मा में सदा रहते हैं।

जिसप्रकार अरहंत भगवान की पर्याय प्रतिसमय पलटती है; उसीप्रकार हमारी पर्याय भी प्रतिसमय पलटती है। पर्याय का स्वभाव ही पलटना है। वस्तुतः पलटने का नाम ही पर्याय है; जो आत्मा और परमात्मा में समान ही है।

अरहंत इस पद में देव-शास्त्र-गुरु तीनों समाहित होते हैं। अरहंत देव, उनकी दिव्यध्वनि शास्त्र और उसके प्रतिपादक भावलिङ्गी सन्त गुरु हैं।

जिसे आत्मा का अनुभव नहीं है, उसे एकदम अंतर से आत्मा का अनुभव नहीं हो जायेगा। उसे अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय का निर्णय करना होगा; वह निर्णय देशनालब्धि अथवा जिनवाणी के आधार से

ही होगा। यह निर्णय दिव्यध्वनि से होगा अथवा गणधरों के द्वारा गूँथी हुई द्वादंशाग वाणी से होगा।

इसप्रकार अरहंत इस पद में देव-शास्त्र-गुरु तीनों समाहित होते हैं। वास्तव में तो अरहंत भगवान ही परमगुरु हैं। शेष तो परम्परागुरु हैं।

आचार्यदेव कहना चाहते हैं कि हम अरहंत पर्याय में विद्यमान सर्वज्ञता को जाने, वीतरागता को जाने; क्योंकि हमारा स्वभाव भी सर्वज्ञत्वशक्ति सम्पन्न हैं। ये मतिज्ञान हमारा स्वभाव नहीं है। हमारा पर्यायस्वभाव भी सर्वज्ञ जैसा ही है।

अरहंत को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानने में दो दृष्टियाँ मुख्य हैं।

प्रथम बिन्दु यदि हम पर्याय का विचार करें तो अरहंत पर्याय में सर्वज्ञता व वीतरागता मुख्य हैं। उनकी इस अवस्था को गहराई से जाने बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। जब हम सर्वज्ञ व वीतरागी पर्याय को जानेंगे, तब हम यह जानेंगे कि सर्वज्ञता आत्मा के ज्ञानगुण की पर्याय है और वीतरागता चारित्रगुण की पर्याय है। इसप्रकार हमने गुण को जाना। फिर यह गुण आत्मा के हैं। इसप्रकार हमने द्रव्य को जाना।

दूसरा बिन्दु यह है कि अरहंत और अपने आत्मा की समानता को जानो। द्रव्य और गुणों से तो यह आत्मा अरहंत के समान है ही; पर्याय में भी समानता है; क्योंकि कालान्तर में हमें भी तो ऐसी ही पर्याय प्रगट होगी।

अन्वय द्रव्य है, अन्वय के विशेषण गुण हैं और अन्वय के व्यतिरेक (भेद) पर्याय हैं।

प्रत्येक आत्मा में अनंत गुण हैं और प्रतिसमय एक गुण की एक पर्याय होती है वह हममें और अरहंत भगवान में पर्याय संबंधी यह समानता है।

जैसे वह चाहे चपरासी हो, चाहे जिलाधिकारी हो वह दोनों ही सरकारी नौकर हैं; जो उनमें भेद है, उसे मुख्य नहीं करना है।

ऐसे ही अरहंत और हमारा आत्मा परिणामनशील है; इसप्रकार दोनों में परिणामनशीलता समान है वह इसप्रकार दोनों की पर्याय में समानता है। पर्याय का जो भेद है; वह व्यक्तिगत स्तर पर है; उसे यहाँ नहीं देखना है।

कोई लड़का शादी करना चाहता है। तब वह पच्चीसों जगह अपने योग्य लड़कियाँ देखता है। जब उसका दिमाग एक जगह स्थिर हो जाता है, उसकी सगाई हो जाती है; तब भी यदि कोई कहता है कि अभी और दो-चार जगह देख लो, तो उसका क्या आशय हो सकता है? यह बात समाज में भी बर्दाश्त के काबिल नहीं होती। लड़की के घरवालों को यह पता चल जाए कि अभी भी इसने लड़की देखना जारी रखा है तो वे भी इस बात को बर्दाश्त नहीं कर सकते हैं। सगाई होने के पश्चात् लड़कियों को देखने में विराम लगना ही चाहिए।

यदि वह समाज में जाए और कहे कि मेरी सगाई हो गई है, फिर भी चार जगह लड़कियाँ देखने गए।

सगाई हो गई फिर भी आपने ऐसा क्यों किया ?

यदि उससे ऐसा पूछते हैं और वह कहता है कि लड़की तो आपकी जैसी सुन्दर हिन्दुस्तान में कहीं नहीं है। इसलिए कहीं अन्यत्र रिश्ता होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इसलिए अन्यत्र देखने से आपको क्या फर्क पड़ता है ?

भाईसाहब! यहाँ लड़की सुंदर है या नहीं है और दूसरी जगह उसका रिश्ता होगा कि नहीं होगा ? यह बात नहीं है। तुम्हारे मन में जो कचास है, बेईमानी है; वह यहाँ प्रगट हो गई है।

क्या लड़की के बाप को इतना धैर्य हो सकता है ? होना भी नहीं चाहिए।

ऐसे ही यद्यपि इस जीव को मुक्ति का मार्ग ख्याल में आया है; फिर भी भटकने की वृत्ति अभी है। इससे यही तात्पर्य है कि इसका मर्म

इसे ख्याल में नहीं आया है। इसकी गहराई इस जीव को ख्याल में नहीं आई है।

ऐसे ही यदि तुम कहो कि तुम्हारा मोक्षमार्ग यदि सच्चा है तो और दस जगह देख लेने दो। इससे क्या फर्क पड़ता है; लौटकर तो यहाँ ही आना है। आचार्य कहते हैं कि हमें तो कोई फर्क नहीं पड़ता, पर तेरी अनास्था तो प्रगट हो ही गई।

ऐसे लोगों के लिए गुरुदेवश्री कानजी स्वामी ऐसा फरमाते थे कि ह्व अभी भी यह मर रहा है। इसे आचार्य कुन्दकुन्ददेव का समयसार प्राप्त है एवं अमृतचन्द्र आचार्य की आत्मख्याति मिल गई है। इसे सब मर्म ख्याल में आ गया है। इसे पूरा पक्का-दृढ़ विश्वास है कि गुरुदेव जो कहते हैं, वह सच्ची बात है। फिर भी इसका यह विकल्प बना रहता है कि अन्यत्र भी कहीं देख लूँ, कहीं नई बात मिल जाएगी। भाई! कहीं भी जाओगे इससे पृथक् कोई सत्य मिलेगा ही नहीं, अंत में यहीं आना पड़ेगा।

आचार्य यहाँ कह रहे हैं कि इसके भटकाव से यही स्पष्ट होता है कि इसके अंतर में अभी कचास है, विकल्प शेष हैं। इस जीव के जो भटकने की वृत्ति है, इसकी एकनिष्ठता में जो शंका उपस्थित हुई है, उससे आचार्यदेव परिचित हैं; इसलिए कहते हैं कि अधिक प्रलाप से क्या फायदा ?

यह कहता है कि मजा नहीं आया, थोड़ा और समझाओ। इसे ही ध्यान में रखकर आचार्य कहते हैं कि अधिक प्रलाप से क्या फायदा ?

इस कथन का आशय मात्र इतना ही है कि समझ में आने का लक्षण एकमात्र तृप्ति है। इस जीव को और अधिक सुनने का, अन्यत्र जाने का, दुनिया में भटकने का जो विकल्प है; वह अतृप्ति का ही सूचक है।

एकमात्र यही रास्ता है, अनन्त जीव इसी रास्ते से मोक्ष गए हैं। अभी वर्तमान में जो जीव मोक्ष जा रहे हैं, छः माह आठ समय में ६०८ जीव मोक्ष जाएँगे; वे किसी अन्य उपाय से मोक्ष में जाएँगे; यह संभव ही नहीं है।

प्रश्न ह्व यदि आप कहते हो तो हम अरहंत भगवान को द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से समझ लेंगे और अपने आत्मा को भी उसीप्रकार समझ लेंगे; पर इससे मोह का नाश कैसे हो जायेगा ? मात्र समझने से मोह का नाश हो जायेगा, कुछ करना नहीं पड़ेगा ?

उत्तर ह्व दृष्टि के विषयभूत अपने त्रिकाली ध्रुव आत्मा को सही रूप में समझ लेने पर यह भी समझ में आ जायेगा कि यह त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा मैं ही हूँ, कोई अन्य नहीं।

यह स्पष्ट हो जाने पर अबतक जिन देहादि परपदार्थों में और रागादि विकारी भावों में अपनापना था, वह नियम से टूट जायेगा।

पर और विकार में अपनेपन का नाम ही मोह है, मिथ्यात्व है और अपने त्रिकाली ध्रुव आत्मा में अपनेपन का नाम ही मोह का नाश है, सम्यग्दर्शन है।

अतः यह स्पष्ट ही है कि पर और विकार से अपनापन टूटते ही तथा अपने ज्ञानानंद-स्वभावी आत्मा में अपनत्व आते ही मोह का नाश होना, मिथ्यात्व का नाश होना, सम्यग्दर्शन का प्राप्त होना अनिवार्य ही है।

एकप्रकार से पर में से अपनत्व टूटना और मोह का नाश होना एक ही बात है। इसीप्रकार अपने में अपनापन होना और सम्यग्दर्शन होना भी एक ही बात है।

वस्तुतः बात यह है कि पर से अपनत्व टूटने और मोह (मिथ्यात्व) के नाश होने का एक काल है। उक्त दोनों कार्य एक समय में ही होते हैं।

यद्यपि ये दोनों भिन्न-भिन्न द्रव्यों की पर्यायें हैं, तथापि दोनों में परस्पर सहज निमित्त-नैमित्तिक भाव बन रहा है। पर में अपनत्व भाव-मिथ्यात्व है और वह आत्मा के श्रद्धागुण की विकारी पर्याय है तथा मिथ्यात्व नामक दर्शनमोहनीय कर्म पौद्गलिक कार्माणवर्गणाओं का कार्य है, पर्याय है।

इसप्रकार पर में अपनत्वरूप भाव चेतन का परिणमन होने से चेतन है और कार्माणवर्गणा से निर्मित दर्शनमोहनीय कर्म जड़ पुद्गल का परिणमन होने से जड़ है।

इनमें परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। जब मिथ्यात्वरूप दर्शनमोहनीय कर्म का उदय होता है तो आत्मा में पर में अपनत्वरूप मिथ्याभाव होते हैं और जब पर में अपनत्वरूप मिथ्याभाव होते हैं तो उनके निमित्त से मिथ्यात्वादि द्रव्यकर्मों का बंध होता है।

यह दुष्चक्र ही मोह की प्रबल ग्रंथि (गाँठ) है, वह गाँठ अरहंत भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानकर, उसीप्रकार अपने आत्मा को जानने से शिथिल होती है, पर से भिन्न अपने आत्मा में अपनापन स्थापित होकर अपने आत्मा में ही जमने-रमने से टूटती है, फूटती है, नष्ट होती है।

इन गाथाओं में बताये गये मुक्ति के मार्ग को छोड़कर मुक्ति का अन्य कोई मार्ग है ही नहीं। आजतक जितने भी जीव मोक्ष गये हैं; वे सभी इसी मार्ग से मोक्ष गये हैं और जो भविष्य में जावेंगे, वे सभी इसी मार्ग से जावेंगे।

अरहंत भगवन्तों ने मुक्ति जिसप्रकार प्राप्त की है; वही मार्ग उनकी दिव्यध्वनि में आया है। ऐसा नहीं है कि स्वयं करे कुछ और दूसरों को बतावे कुछ और। जो किया, वही बताया।

आचार्य अमृतचन्द्रदेव कहते हैं कि यह सब जानकर मेरी मति व्यवस्थित हो गई है। अब मुझे अन्य कोई विकल्प नहीं है। अतः हे

भव्यजीवो ! तुम भी अपने चित्त को अधिक मत भ्रमावो; अपने विकल्पों को विराम दो और इसी रास्ते पर चल पड़ो।

वे तो यहाँ तक लिखते हैं कि अधिक प्रलाप से बस होओ। देखो! मुक्तिमार्ग की शोध-खोज संबंधी चर्चा-वार्ता को भी आचार्यदेव प्रलाप कह रहे हैं।

जगत तो पूर्णतः व्यवस्थित है। इसमें कहीं कोई अव्यवस्था है ही नहीं; हमारी मति अव्यवस्थित है। इसलिए हमें जगत को व्यवस्थित नहीं करना है, अपितु अपनी अव्यवस्थित मति को व्यवस्थित करना है।

मति व्यवस्थित करने के लिए कुछ करना नहीं है, मात्र जगत की व्यवस्थित व्यवस्था समझना है।

जबतक जगत की व्यवस्थित व्यवस्था हमारी समझ में नहीं आती; तबतक उसे व्यवस्थित करने का विकल्प बना ही रहता है, चित्त चंचल बना ही रहता है। चित्त की चंचलता समाप्त हो, इसके लिए केवली भगवान के ज्ञान में आई हुई जगत की व्यवस्था को गहराई से समझना होगा।

वस्तुस्वरूप समझे बिना जगत का सहज परिणमन समझ में नहीं आता। अतः वस्तुस्वरूप समझना अनिवार्य है।

स्वाध्याय के बिना वस्तुस्वरूप समझ में नहीं आता। अतः प्रत्येक आत्मार्थी भाई-बहिन को स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। ●

सभी आत्मा स्वयं परमात्मा हैं, परमात्मा कोई अलग नहीं होते। स्वभाव से तो सभी आत्मायें स्वयं परमात्मा ही हैं, पर अपने परमात्मस्वभाव को भूल जाने के कारण दीन-हीन बन रहे हैं। जो अपने को जानते हैं, पहिचानते हैं, और अपने में ही जम जाते हैं, रम जाते हैं, समा जाते हैं; वे पर्याय में भी परमात्मा बन जाते हैं। हूँ आप कुछ भी कहो, पृष्ठ १३

शुद्धोपयोगी ही सिद्ध होते हैं

(१०१)

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं ।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥

(हरिगीत)

है ज्ञान दर्शन शुद्धता निज शुद्धता श्रामण्य है ।
हो शुद्ध को निर्वाण शत-शत बार उनको नमन है ॥

शुद्ध को ही श्रामण्य कहा है, शुद्ध को ही दर्शन-ज्ञान कहा है और शुद्ध को ही निर्वाण होता है । उनको मेरा बारम्बार नमस्कार है ।

तात्पर्य यह है कि शुद्धोपयोगी श्रमण मुक्ति को प्राप्त करता है । मुक्त जीव ही सिद्ध कहलाते हैं । अतः सभी सिद्धों को मेरा बारम्बार नमस्कार हो ।

यह गाथा प्रवचनसार शास्त्र की २७४वीं गाथा है । प्रवचनसार में कुल २७५ गाथायें हैं । इसप्रकार यह उपान्त की गाथा है । अन्तिम गाथा से पहले की गाथा ही उपान्त की गाथा होती है । अतः इसमें सार की बात आ गई है । यद्यपि यह उपान्त की गाथा है, पर लगता तो ऐसा है कि ग्रन्थ समाप्त हो गया है । इसमें यह कहा गया है कि शुद्धोपयोगी संत को श्रमण कहते हैं, उन्हें ही सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है ।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकतारूप से प्रवर्तमान एकाग्रता लक्षण साक्षात् मोक्षमार्गरूप श्रामण्य शुद्ध (शुद्धोपयोगी) के ही होता है । समस्त भूत, वर्तमान और भावी व्यतिरेकों के साथ मिलित अनन्त वस्तुओं का अन्वयात्मक विश्व के सामान्य और विशेष के प्रत्यक्ष प्रतिभासस्वरूप दर्शन-ज्ञान भी शुद्ध के ही होते

हैं । निर्विघ्न खिला हुआ सहज ज्ञानानन्द की मुद्रावाला दिव्य निर्वाण भी शुद्ध के ही होता है और टंकोत्कीर्ण परमानन्द अवस्थारूप से सुस्थित आत्मस्वभाव की उपलब्धि से गंभीर सिद्धदशा को शुद्ध (शुद्धोपयोगी) ही प्राप्त करते हैं ।

अधिक कहने से क्या लाभ है ? सर्व मनोरथों के स्थानभूत, मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्वरूप शुद्ध को; जिसमें परस्पर अंग-अंगीरूप से परिणामित भावक-भाव्यता के कारण स्व-पर विभाग अस्त हो गया है वह ऐसा भाव नमस्कार हो ।”

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि यहाँ यह कहा गया है कि इस मोक्ष के कारणभूत शुद्धोपयोग के माध्यम से सम्पूर्ण इष्ट मनोरथ सिद्ध होते हैं ह ऐसा मानकर, शेष मनोरथों को छोड़कर, इसमें ही भावना करना चाहिए ।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“आत्मा में तीन काल और तीन लोकवर्ती समस्त पदार्थों को जानने की अपूर्व शक्ति विद्यमान है, वह शुद्धात्मा के आश्रय से ही प्रगट होती है । दया-दानादि के परिणाम से केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती । निज आत्मा के अवलंबन से शुद्धोपयोग की प्राप्ति होती है; अतः शुद्धोपयोगी जीव ही निर्वाण प्राप्त करता है ।

मैं त्रिकाली शुद्ध आत्मा हूँ । मेरा तत्त्व पर से भिन्न है । ज्ञानस्वभावी ध्रुवतत्त्व में एकाग्र होने पर शुद्धता प्रगट होती है, केवलदर्शन और केवलज्ञान प्रगट होता है । अनन्त पदार्थों को एक समय में अभेदरूप से देखनेवाला केवलदर्शन है तथा उसीसमय समस्त पदार्थों को भेदपूर्वक जाननेवाला केवलज्ञान है ।

केवलज्ञान, अपने ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होने पर प्रगट होता है; पुण्य-पाप अथवा महाव्रत के परिणामों से प्रगट नहीं होता । जो स्वयं को जाननेवाला है, वह किसे नहीं जानेगा ?

वह जीव सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है। यह सम्पूर्णज्ञान अपने सुखस्वभाव में से आता है। ॐ का जाप करें, ध्यान करें, तीर्थकर का लक्ष करें तो केवलज्ञान प्रगट नहीं होता। किसी गुरु अथवा भगवान की कृपा से भी केवलज्ञान प्रगट नहीं होता; अपितु शुद्धोपयोग से केवलज्ञान प्रगट होता है।

अब, आचार्यदेव कहते हैं कि वचनविस्तार से बस होओ। सर्व मनोरथ के स्थानभूत, मोक्षतत्त्व वत्र साधनतत्त्व शुद्धोपयोग है। शुद्धोपयोग से समस्त मनोरथ सिद्ध होते हैं। जिसप्रकार योग्य काली भूमि में भिन्न-भिन्न जातियों के फलों की प्राप्ति होती है, उसीप्रकार शुद्धोपयोग से साधुपद, केवलदर्शन-केवलज्ञान, निर्वाण तथा सिद्धदशा की प्राप्ति होती है ह्व इसलिये ऐसे शुद्धोपयोग को भावनमस्कार हो।”

इस गाथा में निष्कर्ष के रूप में यह कह दिया गया है कि शुद्धोपयोगी सन्तों के ही सच्चा श्रामण्य (मुनिपना) है और वे ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से सम्पन्न हैं। अधिक क्या कहें ह्व एक उनको ही मोक्ष की प्राप्ति होनेवाली है। इसलिए हम सिद्धदशा प्राप्त करने में संलग्न शुद्धोपयोगी सन्तों और सिद्धों को बारम्बार नमस्कार करते हैं।

एक प्रकार से यह ग्रन्थ का अन्तिम मंगलाचरण है।

(चौपाई)

कुन्दकुन्द गाथा शत एक, चुनी संग्रही सहित विवेक ॥१॥
हरिगीत में प्रस्तुत किया, सारे जग ने अपना लिया ॥२॥
फिर उसका अनुशीलन किया, प्रमुदित मन से पूरण किया ॥३॥
दो हजार पन्द्रह रविवार, एक फरवरी के दिन सार ॥४॥
यह अनुशीलन पूरण भया, प्रणामूँ जिनवर हर्षित हिया ॥५॥

(दोहा)

पठन मनन चिन्तन गहन भविजन जन-जन माँहि।
प्रतिदिन अनुशीलन करो चित चेतन चित माँहि ॥६॥